

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186109

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 335**

Accession No. **H 3463**

J 83 A

Author

जोशी, मुरलीधर

Title

आर्थिक पद्धतियाँ 1963.

This book should be returned on or before the date
last marked below.

आर्थिक पद्धतियाँ

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—७३

आर्थिक पद्धतियाँ

लेखक

डा० मुरलीधर जोशी

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण

१९६३

मूल्य

रु० ६.५०

मुद्रक :

वीरेन्दनाथ घोष,

माया प्रेस प्राइवेट लि०, इलाहाबाद ।

प्रकाशकीय

ज्यों ज्यों सम्यता का प्रसार और वृद्धि होती जाती है, मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं। इनकी पूर्ति के लिए नये नये साधन जुटाने पड़ते हैं। इन साधनों का और उत्पादित या तैयार की गयी वस्तुओं का यथोचित वितरण हो, इसका भी ध्यान रखना पड़ता है। यह कार्य इतना कठिन और उलझा हुआ है कि राज्य और शासन की सहायता या हस्तक्षेप के बिना इसमें सफलता की आशा नहीं की जा सकती। पहले खुली और व्यापक प्रतिस्पर्धा की पद्धति ही अच्छी समझी जाती थी पर धीरे धीरे परिस्थितियों से परेशान होकर लोगों को नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। थोड़े में, विभिन्न आर्थिक पद्धतियों के प्रादुर्भाव का यही कारण है। इस पुस्तक में इन्हीं पद्धतियों और इनसे सम्बद्ध विविध समस्याओं की चर्चा करते हुए उनके स्वरूप, हानि-लाभ, अच्छाइयों-बुराइयों आदि का सम्यग् विवेचन किया गया है। आशा है, योजनाबद्ध कार्य करने की वर्तमान प्रवृत्ति और वांछनीयता को देखते हुए इस पुस्तक में संकलित विचारों एवं तथ्यों की जानकारी से हिन्दी के पाठक यथेष्ट रूप से लाभान्वित हुए बिना न रहेंगे।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

	प्रस्तावना	-९-
अध्याय	१ आर्थिक समस्याएं	१
"	२ अर्थ-व्यवस्था	१३
"	३ विनिमय अर्थ-व्यवस्था	२७
"	४ आर्थिक संस्थाएं तथा मान्यताएं	४२
"	५ राज्य और शासन	५७
"	६ पूंजीवाद	७१
"	७ पूंजीवाद का मूल्यांकन	९३
"	८ पूंजीवाद का वर्तमान स्वरूप	१०९
"	९ समाजवादी आर्थिक पद्धति	१३३
"	१० रूस की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था	१५८
"	११ समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन	१७९
"	१२ फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था	२०१
"	१३ मिश्रित आर्थिक पद्धति	२१८
"	१४ भारत में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था	२३९
"	१५ मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन	२५८

प्रस्तावना

संसार कर्मक्षेत्र है। इसमें रह कर व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर नाना प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। प्रत्येक कार्य करने की कोई न कोई पद्धति अवश्य होती है। सम्भव है कि एक कार्य अनेक प्रकार की पद्धतियों के द्वारा सम्पादित हो सकता हो और प्रत्येक पद्धति की अपनी अपनी विशेषताएं हों। यह भी सम्भव है कि आवश्यकतानुसार अथवा ऐतिहासिक दबावों के फलस्वरूप नयी पद्धतियों का निर्माण होता रहे।

आर्थिक क्रियाएं भी इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत आती हैं। किसी भी प्रकार के समाज में आर्थिक क्रियाओं को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि साधारण जनता का तो अधिकांश समय तथा शक्ति आर्थिक कार्यों के सम्पादन में ही लग जाते हैं। इंग्लैंड के एक प्रमुख अर्थ-शास्त्री मार्शल ने यहाँ तक कहा है कि अर्थशास्त्र में जीवन के सामान्य व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। इस कथन में बहुत कुछ तथ्य है।

सभी प्रकार के समाजों के समक्ष एक प्रधान आर्थिक समस्या रही है और रहेगी। वह यह है कि आर्थिक उद्देश्यों की अपेक्षा आर्थिक साधनों की कमी, अर्थात् मनुष्यों की आवश्यकताएं असीमित हैं परन्तु उनकी पूर्ति के साधन सीमित हैं। इस समस्या का तथा इससे संलग्न दूसरी समस्या, सीमित साधनों का भिन्न-भिन्न व्यवहारों में प्रयोग, का विश्लेषण हमने प्रस्तुत पुस्तक के पहले अध्याय में किया है।

इस प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए आर्थिक क्रियाओं का प्रादुर्भाव होता है। इन क्रियाओं की सम्पादन की कोई न कोई विधि, व्यवस्था, पद्धति अथवा प्रणाली होती है। इस सम्बन्ध में हम

कतिपय आदर्श पद्धतियों की कल्पना कर सकते हैं और उनके व्यावहारिक रूप की विवेचना भी कर सकते हैं। इस विषय का प्रतिपादन हमने दूसरे अध्याय में किया है।

ऐसी आर्थिक पद्धति की भी कल्पना की जा सकती है जिसमें लोग अपने ही उपभोग के लिए उत्पादन करते हों और जिसमें विनिमय की क्रिया न होती हो। ऐसी पद्धति शायद ही कभी व्यवहार में पायी गयी हो। यदि कोई व्यक्ति समाज के बिल्कुल बाहर रहे तभी विनिमय की आवश्यकता तथा क्रिया नहीं होगी। परन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज में रहने के कारण तथा अन्य कारणों से भी एक दूसरे के साथ आदान-प्रदान की क्रिया होती ही रहती है। प्रारम्भ में यह क्रिया वस्तु-विनिमय के रूप में होती है। बाद में किसी माध्यम की सहायता से सम्पादित होती है जिसको “मुद्रा” कहते हैं। विनिमय के सन्दर्भ में मूल्य तथा मन्दी (मार्केट) का भी प्रयोग होता है। इन्हीं सब बातों की विवेचना हमने तीसरे अध्याय में की है।

आर्थिक क्रियाएं शून्य में सम्पादित नहीं होती हैं। प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ संस्थाएं, आस्थाएं, मान्यताएं तथा परम्पराएं होती हैं जिनके सन्दर्भ में आर्थिक क्रियाएं सम्पादित होती हैं और जिनसे वह प्रभावित भी होती रहती हैं। ये संस्थाएं तथा मान्यताएँ बदलती तो हैं परन्तु बहुत ही मन्द गति से। समाज तथा व्यक्ति इनकी पकड़-जकड़ में रहते हैं। चौथे अध्याय में प्रमुख संस्थाओं तथा मान्यताओं का वर्णन भिन्न-भिन्न आर्थिक पद्धतियों के सन्दर्भ में किया गया है।

मनुष्य जब समाज में रहने लगते हैं तो किसी न किसी रूप में राज्य की कल्पना होती है और शासन की व्यवस्था करनी पड़ती है। समाज की बाहरी आक्रमण से सुरक्षा, देश में शान्ति की व्यवस्था तथा जानमाल की रक्षा, शिक्षा तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध इत्यादि अनेक कार्य राज्य द्वारा ही सुसम्पादित हो सकते हैं। किसी भी आर्थिक पद्धति के संचालन

में राज्य तथा शासन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहता है। पाँचवें अध्याय में राज्य, शासन की आवश्यकता तथा उसके कार्यों का वर्णन है।

गत दो तीन शताब्दियों में पूँजीवादी आर्थिक पद्धति का बोलबाला रहा है। छठे अध्याय में इस पद्धति की रूप-रेखा, इसकी विशेषताएं तथा इसके संचालन की विधि का वर्णन किया गया है। सातवें अध्याय में इस पद्धति का मूल्यांकन किया गया है। इसकी उपलब्धियों तथा त्रुटियों पर भी प्रकाश डाला गया है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का व्यावहारिक स्वरूप अपने आदर्श से बहुत कुछ बदल गया है। आठवें अध्याय में पूँजीवाद के वर्तमान स्वरूप का वर्णन है।

बीसवीं शताब्दी में विशेषकर प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्, कुछ देशों ने समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को स्वीकार किया है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से बहुत बातों में भिन्न है। नवें अध्याय में समाजवादी आर्थिक पद्धति की रूपरेखा, उसकी विशेषताएं तथा उसकी संचालन-विधि की विवेचना की गयी हैं। इस पद्धति का प्रयोग सबसे पहिले रूस में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् एक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ। रूस में ही इस पद्धति का विकास भी हुआ। अतएव दसवें अध्याय में हमने रूस में चरितार्थ समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का वर्णन किया है। ग्यारहवें अध्याय में इस अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन किया गया है।

विगत दो महायुद्धों के अन्तरिम काल में इटली और जर्मनी में मुसोलिनी और हिटलर के नेतृत्व में एक विशेष प्रकार की आर्थिक पद्धति का प्रयोग हुआ जिसको फासिस्ट पद्धति का नाम प्राप्त हुआ। इस पद्धति की विशेषताओं, गतिविधियों का वर्णन तथा उसका मूल्यांकन बारहवें अध्याय में किया गया है।

पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं की त्रुटियों और दोषों को देखते हुए, उनके गुणों को ग्रहण करने के लिए तथा अवगुणों का निराकरण करने के लिए वर्तमान काल में कुछ देशों में एक मध्य-मार्ग का अवलम्बन किया गया है। इसको मिश्रित आर्थिक-पद्धति कहते हैं।

इस पद्धति के निर्माण तथा विकास का वर्णन तेरहवें अध्याय में दिया गया है। इस पद्धति की विशेषताएं तथा पूंजीवादी और समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं के साथ इसकी समानता और असमानता का विवेचन भी किया गया है।

भारतवर्ष ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। यह देश पंच-वर्षीय योजनाओं की सहायता से जनतन्त्रात्मक विधि द्वारा इस व्यवस्था के सम्पादन में संलग्न है। अनेक देशों की आँखें इस समय भारत की अर्थ-व्यवस्था तथा इसके द्वारा उपलब्ध आर्थिक प्रगति पर लगी हुई हैं। यह एक बड़ा प्रयोग है। अतएव हमने चौदहवें अध्याय में भारत की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की विवेचना की है।

पन्द्रहवें तथा अन्तिम अध्याय में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन किया गया है। इस पद्धति में निहित आशाओं और आकांक्षाओं का निरूपण करते हुए इसकी समस्याओं पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस पद्धति को सफल बनाने के भी सुझाव दिये हैं।

इस पुस्तक को लिखने के लिए जिन पुस्तकों से सहायता ली गयी है वह प्रायः सभी आंग्ल भाषा में लिखी हुई हैं। पुस्तक के सदर्थ में अनेक अर्थशास्त्रियों के नाम आये हैं। हमने किसी पुस्तक से अनुवाद करके उद्धरण नहीं दिये हैं। लेखकों की विचार-धाराओं का वर्णन मात्र किया है। हम इन लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं।

यह पुस्तक जन साधारण के लिए लिखी गयी है। जहाँ तक सम्भव हो सका है इसमें विवाद-ग्रस्त विषयो तथा उनकी बारीकियों में जाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। तथापि कहीं कहीं पर विश्लेषण से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से क्लिष्टता का समावेश होना सम्भव है। जन-साधारण के अतिरिक्त, आशा है कि, यह पुस्तक कौलेज तथा विश्व-विद्यालय के छात्रों के लिए भी लाभप्रद होगी। आर्थिक-पद्धतियों को समझने में यदि पाठकों को इस पुस्तक से कुछ भी सहायता मिल सकी तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

मुरलीधर जोशी

अध्याय १

आर्थिक समस्याएँ

आवश्यकताएँ

यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य अनेक प्रकार की आवश्यकताओं का अनुभव करता है और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील भी रहता है। आवश्यकताओं की पूर्ति से सुख की प्राप्ति होती है और अतृप्त आवश्यकताओं के फलस्वरूप मनुष्य दुखी रहता है। यह ठीक है कि मनुष्य को अपने को आवश्यकताओं का दास नहीं बनाना चाहिए। भारतीय संस्कृति के अनुसार आवश्यकताओं का शमन करना चाहिए। उनको उच्छृंखल नहीं होने देना चाहिए तथा उनको सीमित रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सब मानते हुए भी वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त मालूम पड़ती हैं और उनका शमन तथा दमन करना सर्व साधारण मनुष्य के वश की बात नहीं जान पड़ती है।

आवश्यकताओं का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। एक वर्गीकरण के अनुसार आवश्यकताओं को आर्थिक और अनार्थिक दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इस प्रकार का वर्गीकरण पूर्ण रूप से विशुद्ध तो नहीं है क्योंकि कौन आवश्यकता आर्थिक है और कौन अनार्थिक इसका निर्णय करना कभी-कभी बहुत कठिन कार्य हो जाता है। प्रायः आवश्यकताओं के दो पहलू होते हैं, जिनमें एक आर्थिक और दूसरा अनार्थिक होता है। इस प्रकार की समस्या प्रायः सभी वर्गीकरणों में पायी जाती है। परन्तु आवश्यकताओं को आर्थिक व अनार्थिक वर्गों में विभाजित करने से विश्लेषण के कार्य में सुविधा रहती है। सुविधा के दृष्टिकोण से इस वर्गीकरण को स्वीकार किया जाता है।

जिन आवश्यकताओं का सम्बन्ध अर्थ अर्थात् धन से रहता है उनको आर्थिक आवश्यकताएँ कहा जाता है और जिनका अर्थ से कोई भी सम्बन्ध नहीं है उनको अनार्थिक कहा जाता है। उदाहरण के लिए भोजन तथा वस्त्र की आवश्यकताओं का अर्थ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अर्थ के बिना इनकी पूर्ति नहीं हो सकती है। अतएव इन आवश्यकताओं को हम आर्थिक आवश्यकताएँ कहेंगे। प्रायः सभी भौतिक आवश्यकताओं का अर्थ से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, अतएव वे आर्थिक आवश्यकताएँ कही जायेंगी। इसके प्रतिकूल आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी होती हैं, जिनका अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता है। अतएव इन आवश्यकताओं को अनार्थिक कहा जा सकता है।

आर्थिक और अनार्थिक आवश्यकताओं का भेद एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। आधुनिक काल में प्रायः सभी देशों में मुद्रा का चलन है। मुद्रा द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है। साधारण बोल-चाल की भाषा में कह सकते हैं कि जिन आवश्यकताओं की पूर्ति ऐसी वस्तुओं तथा सेवाओं से हो सकती है जिनका आदान-प्रदान मुद्रा द्वारा होता है अथवा हो सकता है, उनको आर्थिक आवश्यकताएँ कह सकते हैं। उदाहरण के लिए अनाज द्वारा भोजन की आवश्यकता की पूर्ति होती है और अनाज का क्रय-विक्रय मुद्रा द्वारा होता है अथवा हो सकता है। अतएव अनाज द्वारा पूर्ण होनेवाली आवश्यकता को आर्थिक आवश्यकता कहेंगे और तदनुसार अनाज को आर्थिक वस्तु कहेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में हम आर्थिक पद्धतियों की विवेचना कर रहे हैं। अतएव हमारा प्रयोजन आर्थिक आवश्यकताओं और आर्थिक वस्तुओं से ही है। आगे जब कभी हम बिना विशेषण के “आवश्यकता” अथवा “वस्तु” शब्दों का प्रयोग करेंगे तो समझ लेना चाहिए कि हमारा तात्पर्य आर्थिक आवश्यकताओं अथवा सेवाओं से ही है।

आर्थिक साधन

आवश्यकताओं की पूर्ति वस्तुओं तथा सेवाओं के उपभोग द्वारा

होती है। मनुष्य को इन वस्तुओं का उत्पादन करना पड़ता है, और इनको प्राप्त करने के लिए उद्योग तथा परिश्रम करना पड़ता है। वायु, धूप इत्यादि वस्तुएँ जो मनुष्यों को बिना उद्योग से ही प्राप्त हो जाती हैं, आर्थिक वस्तुएँ नहीं कही जाती हैं। उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मात्रा सीमित होती है। किसी भी समय-विशेष में उत्पत्ति के साधन सीमित होते हैं और वे उत्पादन की अधिकतम सीमा का निर्धारण करते हैं। कालान्तर में साधनों में वृद्धि अथवा कमी हो सकती है और उसी हिसाब से उत्पादन की सीमा भी विस्तृत अथवा संकुचित हो जाती है।

यों तो आर्थिक साधन अनेक प्रकार के होते हैं परन्तु सुगमता के दृष्टिकोण से हम इनको तीन बड़े वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) प्राकृतिक साधन, जिसके अन्तर्गत भूमि (प्राकृतिक अवस्था में), जल, वायु, धूप, खनिज पदार्थ इत्यादि आते हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ये साधन प्रकृति की देन हैं। इनके निर्माण में मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता है परन्तु वस्तुओं के उत्पादन में इनकी आवश्यकता होती है।

(२) जन-साधन, जिसके अन्तर्गत मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का समावेश होता है। मनुष्य स्वयं ही उत्पादन का एक प्रमुख साधन है। अपने बुद्धिबल तथा शारीरिक बल से वह उत्पत्ति को प्रभावित करता है।

(३) पूँजीकृत साधन, जिसके अन्तर्गत मनुष्य द्वारा निर्मित यंत्र, औजार, मशीन, कल, कारखाने, रेल, मोटर इत्यादि का समावेश होता है। वर्तमान काल में इन साधनों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इन साधनों की विशेषता यह है कि इनका निर्माण मनुष्य स्वयं करता है और इनकी सहायता से प्राकृतिक तथा जन-साधनों से अधिक-से-अधिक मात्रा में उत्पादन करने का प्रयत्न करता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति वस्तुओं के उपभोग से होती है। अतएव जिस मात्रा में वस्तुएँ उत्पन्न की

जा सकेंगी उसी मात्रा में आवश्यकताओं की पूर्ति भी की जा सकेगी। किसी भी कालावधि में कितनी मात्रा में वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती हैं यह उस अवधि में प्राप्त साधनों पर, उनकी कार्य-क्षमता पर तथा उनके उपभोग पर निर्भर है। केवल साधनों की उपलब्धि ही पर्याप्त नहीं है। यह भी देखना है कि कहाँ तक इन साधनों को काम में लगाया जा रहा है।

आर्थिक समस्या

आर्थिक परिस्थिति में एक महत्वपूर्ण बात यह पायी जाती है कि एक ओर मनुष्य की आवश्यकताओं का कोई ओर-छोर मालूम नहीं पड़ता है अर्थात् एक आवश्यकता की तृप्ति के बाद दूसरी उठ खड़ी होती है, परन्तु दूसरी ओर जिन साधनों की सहायता से इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है वे सीमित हैं। संक्षेप में मनुष्य की आवश्यकताएँ असीम^१ हैं परन्तु साधन सीमित हैं। यह एक बड़ी समस्या है। इसी समस्या को आर्थिक समस्या कहते हैं। यदि साधन भी असीम होते तो किसी प्रकार की आर्थिक समस्या उत्पन्न न होती। मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता।

“असीम आवश्यकताएँ और सीमित साधन” इस परिस्थिति को अर्थशास्त्र का मूलाधार माना गया है। यह एक सर्वव्यापी आर्थिक समस्या है अर्थात् यह समस्या सभी कालों में, सभी प्रकार के समाजों में और सभी देशों में थी, है और रहेगी। प्राचीन आखेट युग में यह समस्या थी और

१. ऐसा कहा जा सकता है कि संत और महात्माओं की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं। परन्तु इसके लिए उनको विशेष प्रकार का प्रयत्न करना पड़ता है जो कि जन साधारण को सुलभ नहीं है। आवश्यकताओं का यह एक सामान्य नियम है कि ये बनी ही रहती हैं। कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता है कि वह आवश्यकता-रहित हो गया है। आवश्यकताओं को सीमित करने का मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु यह दूसरा ही विषय है।

आधुनिक मशीन-युग में भी यह समस्या है। जन-जातियों की यह समस्या है और आधुनिक सम्य जातियों की भी यह समस्या है। पूँजीवादी देशों की यह समस्या है और समाजवादी देशों की भी यह समस्या है। भारतवर्ष जैसे निर्धन देश की यह समस्या है तो अमेरिका के संयुक्त राज्य जैसे सम्पन्न देश में भी यह समस्या है।

साधनों की सीमितता आपेक्षिक है। अर्थात् आवश्यकताओं के संदर्भ में ही इसका प्रयोग किया जाता है। आवश्यकताओं और साधनों को तुला पर रखने पर साधनों का पलड़ा उठा हुआ और आवश्यकताओं का पलड़ा झुका हुआ रहता है। यदि साधनों की मात्रा बढ़ती जाती और आवश्यकताएँ उतनी ही रहती अथवा आवश्यकताओं की मात्रा में साधनों की मात्रा से कम अनुपात में वृद्धि होती, तो एक समय ऐसा आ जाता जब कि साधनों वाला पलड़ा आवश्यकताओं वाले पलड़े की तुलना में अधिक झुक जाता। इस दशा में आर्थिक समस्या का समाधान हो जाता। परन्तु अनुभव द्वारा ज्ञात होता है कि वास्तव में ऐसा होता नहीं है। साधनों में अवश्य वृद्धि होती रहती है। प्राचीन काल की तुलना में आधुनिक काल में साधनों में कई गुनी वृद्धि हो गयी है। जन संख्या ही बहुत बढ़ गयी है। पूँजी का संचय भी बढ़ता जा रहा है। विज्ञान और तकनीकी ज्ञान में बहुत वृद्धि हुई है। परन्तु साथ-ही-साथ आवश्यकताओं में इससे भी अधिक मात्रा में वृद्धि होती रही है। किसी भी कालाविधि को ले लीजिए, आवश्यकताओं की तुलना में साधन कम ही पड़ते हैं।

साधनों की इस कमी का एक पक्ष यह है कि साधन बहुपयोगी होते हैं अर्थात् किसी भी साधन का उपयोग अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए किया जा सकता है। उदाहरण के लिए बिजली को ले लीजिए। यह एक ऐसा साधन है जिसका प्रयोग प्रकाश के लिए, पखे के लिए, चूल्हे के लिए, रेडियो के लिए, पानी खींचने के लिए, रेल चलाने के लिए, मशीनों को चलाने के लिए तथा और भी अनेक कार्यों में किया जाता है। यदि बिजली का प्रयोग केवल प्रकाश के निमित्त ही होता

तो सम्भव है कि इस आवश्यकता की पूर्ण रूप से पूर्ति हो जाती। परन्तु चूँकि बिजली के अन्य भी कई उपयोग होते हैं अतएव ऐसी स्थिति कभी भी नहीं रहती जब कहा जा सके कि बिजली-सम्बन्धी सभी आवश्यकताएँ पूर्ण हो गयी हैं। भारतवर्ष में ही गत दो पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत इस दिशा में बहुत वृद्धि हुई है परन्तु बहुत ही थोड़े ग्राम हैं जहाँ अभी तक प्रकाश के लिए ही बिजली का प्रबन्ध किया जा सका है। अभी कितनी ही ऐसी पंचवर्षीय योजनाओं की आवश्यकता होगी जब कि भारतवर्ष में सर्वत्र बिजली द्वारा प्रकाश हो पायेगा। बिजली के अन्य उपयोगों के बारे में तो कहना ही क्या है। इसके तो नये-नये उपयोग प्रकट हो रहे हैं और यह असंभव है कि भविष्य में कभी भी इतनी बिजली प्राप्त हो सकेगी कि हम कह सकें कि अब इससे अधिक बिजली की आवश्यकता नहीं है। साथ-ही-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जिन साधनों, कोयला इत्यादि से बिजली प्राप्त होती है वे भी सीमित हैं और उनका प्रयोग अन्य कार्यों में भी हो सकता है। केवल बिजली की ही तो आवश्यकता नहीं है। यदि जिन साधनों से बिजली प्राप्त की जा सकती है उन सभी साधनों का प्रयोग बिजली के निर्माण में ही कर दें तो वे साधन अन्य वस्तुओं के निर्माण के लिए प्राप्त न हो सकेंगे और हो सकता है कि इन अन्य वस्तुओं की आवश्यकता बिजली की आवश्यकता से अधिक तीव्र हो। जो बात बिजली के सम्बन्ध में कही गयी है वही बात अन्य साधनों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अर्थात् किसी भी साधन का उपयोग अनेक कार्यों में किया जा सकता है और जब एक कार्य में उसका उपयोग कर लिया गया तो अन्य कार्यों के लिए वह उपलब्ध नहीं होता है।

साधनों का वितरण

यदि किसी साधन का उपयोग अनेक प्रकार से हो सकता है और सभी उपयोगों को पूर्ण करने के लिए साधन की मात्रा अपर्याप्त है तो प्रश्न यह उठता है कि इस साधन का भिन्न-भिन्न उपयोगों में किस प्रकार से वितरण

किया जाय। उदाहरण के लिए भूमि को ही ले लीजिए। भूमि की मात्रा सीमित है परन्तु इसके उपयोग अनेक हैं। कृषि कार्य के अतिरिक्त भूमि का उपयोग वनों तथा उपवनों के लिए, मकानों के लिए, यातायात के लिए तथा और भी अनेक कार्यों के लिए हो सकता है। इतना ही नहीं। यदि कृषि के लिए भूमि की मात्रा निर्धारित कर भी दी गयी तब भी वितरण की एक अन्य समस्या बनी ही रह जाती है कि गेहूँ, कपास, गन्ना इत्यादि अनेक प्रकार के कृषि-पदार्थों के उत्पादन में उसका विभाजन किस प्रकार किया जाय।

कहने का अभिप्राय यह है कि साधनों का सीमित होना ही आर्थिक समस्या नहीं है परन्तु सीमित साधनों का भिन्न-भिन्न कार्यों में वितरण करना भी एक प्रमुख आर्थिक समस्या है। यह समस्या कितनी व्यापक है इसका विवेचन हम एक घरेलू उदाहरण द्वारा करते हैं। मान लीजिए एक मध्यम वर्गीय परिवार में प्रति दिन एक सेर दूध लिया जाता है। गृहिणी के सामने यह समस्या है कि इसी सीमित दूध का वितरण भिन्न भिन्न उपयोगों में किस प्रकार करे। दूध पीने के, चाय बनाने के और दही जमाने के काम में लाया जा सकता है। यदि एक उपयोग में वृद्धि की जाती है तो अन्य उपयोगों में कटौती करनी पड़ती है क्योंकि दूध की मात्रा सीमित है। यदि किसी प्रकार यह निश्चय कर लिया गया कि आधा सेर दूध पीने के लिए रखा जाय, उस पर एक अन्य समस्या होगी कि यह दूध बच्चों को दिया जाय अथवा रोगी पति को दिया जाय अथवा अतिथि को दिया जाय। यदि बच्चों को ही दिया जाय तो किस बच्चे को कितना दिया जाय। कहा जा सकता है कि कोई भी गृहिणी इस प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं करती है। वह किसी न किसी प्रकार से सीमित दूध का उपयोग भिन्न भिन्न कार्यों में कर ही लेती है। परन्तु यदि हम विषय की गहराई में जायें तो जान पड़ता है कि गृहिणी के वितरण के कार्य में प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में कोई सिद्धान्त निहित है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आगे चल

कर किया जायगा। यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि गृहिणी का उद्देश्य परिवार की अधिकतम तृप्ति है।

वितरण की जो समस्या एक साधन के सम्बन्ध में कही गयी है वह सभी साधनों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। क्योंकि सभी साधनों की मात्रा सीमित है। अतएव सभी के सम्बन्ध में वितरण की समस्या रहती है। एक गृहिणी के सामने ही यह समस्या नहीं परन्तु सभी के सामने है। एक किसान के सामने यह समस्या है, एक मिल मालिक के सामने यह समस्या है और सरकार के सामने भी यही समस्या है, क्योंकि सभी के साधन सीमित हैं और इन साधनों का प्रयोग अनेक प्रकार से हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में यह निश्चय करना पड़ता है कि किन उपयोगों को प्राथमिकता दी जाय और किस मात्रा में। ऐसा भी नहीं है कि एक बार इसका निश्चय कर लिया जाय और फिर उसी को दुहराते जायँ। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं और इन बदलावों के परिणाम स्वरूप प्राथमिकताएँ भी बदलती रहती हैं।

आर्थिक कार्यों का उद्देश्य

यह तो सर्वमान्य है कि सामाजिक दृष्टिकोण से सभी आर्थिक कार्यों का चरम उद्देश्य जन साधारण के जीवन स्तर को ऊँचा करना है। जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए यह आवश्यक है कि सभी व्यक्तियों को विविध प्रकार की अधिकतम उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त हों। ऐसा करने के लिए इन वस्तुओं का अधिकतम मात्रा में उत्पादन आवश्यक है। उत्पत्ति का कुल परिणाम उपलब्ध साधनों पर निर्भर करता है। जिस देश में साधन कम हैं उस देश में उत्पत्ति की मात्रा भी कम होगी और जिस देश में साधन प्रचुर मात्रा में हैं उस देश में कुल उत्पादन भी अधिक मात्रा में हो सकेगा। इस प्रकार उपलब्ध साधन अधिकतम सम्भावित उत्पादन की मात्रा को निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कौन कौन सी वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किया जाय और किस किस मात्रा में। साधनों के सीमित होने के कारण

सभी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन पूर्णतः तो नहीं हो सकता है। अतएव यह निश्चय करना पड़ता है कि किन किन वस्तुओं के उत्पादन के लिए किन किन मात्राओं में उत्पत्ति के साधन उपलब्ध कराये जायें। साधनों के वितरण से ही भिन्न भिन्न वस्तुओं की भिन्न भिन्न मात्रा में उत्पत्ति हो सकती है। किसी भी देश में किसी कालावधि में कौन कौन सी वस्तुएँ किस किस मात्रा में प्राप्त हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस देश के आर्थिक साधनों का वितरण भिन्न भिन्न आर्थिक कार्यों में किस प्रकार किया गया है। (यहाँ पर हम एक ऐसे देश की कल्पना कर रहे हैं जिसका बाहरी दुनिया से कोई सम्पर्क नहीं है।) भिन्न भिन्न वस्तुओं और सेवाओं की मात्राएँ इसी आर्थिक निश्चयीकरण पर निर्भर करती हैं। अब यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार का आर्थिक निश्चय कौन करता है और किस आधार पर यह निश्चय किया जाता है। क्या इस निश्चय के पीछे कोई सिद्धान्त है अथवा यों ही निश्चय कर लिया जाता है। कैसे मालूम हो कि जो निश्चय किया गया वह सही था। इसकी जाँच पड़ताल कौन करे और कैसे करे। दूध के वितरण के सम्बन्ध में हमने कहा था कि गृहिणी परिवार को अधिकतम तृप्ति प्राप्त कराने का ध्यान रखती है। देश के सम्पूर्ण साधनों का किस प्रकार उपयोग हो इसका निश्चयीकरण इतना सरल नहीं प्रतीत होता है। अनेक साधन हैं और उनसे अनेक उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी साधनों का एक बारगी ही उपयोग कर लिया जाय। खनिज पदार्थ जैसे साधनों को, जिनकी पूर्ति मनुष्य नहीं बढ़ा सकता है, आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी सुरक्षित रखना पड़ता है। कुछ साधनों का उपयोग उपभोग की वस्तुओं के निर्माण के लिए और कुछ का उपयोग उत्पादन की सामग्री के निर्माण के लिए होता है। इनमें भी कुछ वस्तुओं का प्रयोग अल्प कालीन होता है और कुछ का प्रयोग दीर्घ कालीन। उत्पादन की इन सभी वस्तु-स्थितियों में सामंजस्य लाना पड़ता है। यह सब होता कैसे है?

इन सब बातों को सोचते-विचारते बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है । हमारी आँखों के सामने ही आर्थिक घटनाएँ घटती जाती हैं । वे इसी प्रकार क्यों घटीं ? किसी दूसरे प्रकार से क्यों नहीं घटीं ? भविष्य में किस प्रकार घटेंगी ? इस प्रकार के प्रश्न किसी भी अर्थ-व्यवस्था के मौलिक और आधारभूत प्रश्न हैं । प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं प्रश्नों पर विचार किया गया है । वास्तव में भिन्न भिन्न आर्थिक पद्धतियों में ही एक प्रकार से इन प्रश्नों के उत्तर निहित हैं । एक प्रकार की आर्थिक पद्धति एक प्रकार से इन समस्याओं का समाधान करती है तो दूसरे प्रकार की आर्थिक पद्धति दूसरे प्रकार से करती है । इस प्रकरण में भिन्न भिन्न आर्थिक पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन भी किया जाता है और एक पद्धति को दूसरी पद्धतियों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है । यह समझना है कि भिन्न भिन्न आर्थिक पद्धतियाँ किस प्रकार आर्थिक प्रश्नों का उत्तर देती हैं और यह भी समझना है कि इन पद्धतियों में आधारभूत बातें क्या हैं और उनको किस प्रकार की मान्यताएँ प्राप्त है । मान्यताएँ भी बदलती रहती हैं और आर्थिक पद्धतियों को प्रभावित करती रहती हैं । इस प्रकार आर्थिक पद्धतियाँ भी देश और काल से प्रभावित होती रहती हैं । अगले अध्यायों में इन विषयों पर प्रकाश डाला जायगा ।

कुछ अन्य समस्याएँ

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले एक दो और आर्थिक समस्याओं की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है । इनका भी आर्थिक पद्धतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है । एक समस्या यह है कि किसी भी देश में आर्थिक साधनों की सहायता से जो उत्पत्ति होती है उस राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार होता है । यह कैसे होता है कि कुछ परिवारों को अधिक उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त हैं और कुछ को कम । एक ही परिवार को भी भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न मात्रा में ये वस्तुएँ प्राप्त होती हैं । ऐसा क्यों होता है ? कौन इसका निश्चयीकरण

करता है ? सम्पत्ति का वितरण भी असमान दिखाई देता है। कुछ व्यक्तियों के पास अपार सम्पत्ति होती है और कुछ व्यक्ति सम्पत्तिहीन दिखाई देते हैं ? ऐसा कैसे होता है ? क्या इस आय और सम्पत्ति के वितरण की असमानता आर्थिक समस्या है ? यदि है तो इसका समाधान कैसे किया जाता है अथवा किस प्रकार किया जा सकता है।

दूसरी समस्या है आर्थिक चक्र की। यह देखा गया है कि आर्थिक प्रगति में बीच बीच में बाधाएँ आती रहती हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि सारे आर्थिक क्षेत्र में मन्दी छा जाती है। वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं, उत्पादकों का लाभ घटने लगता है, हानि भी होने लगती है। परिणाम-स्वरूप वे उत्पत्ति की मात्रा में कमी कर देते हैं। आर्थिक साधनों में ब्रेकारी आ जाती है। सभी आर्थिक कार्यों का स्तर नीचे गिर जाता है। ऐसी स्थिति कुछ काल तक बनी रहती है। तत्पश्चात् पुनः वातावरण बदल जाता है। उत्पादकों में आशा का संचार होने लगता है। आर्थिक कार्यों में अधिक पूँजी लगायी जाने लगती है और आर्थिक साधनों का उपयोग होने लगता है। लाभ बढ़ता है और साथ साथ उत्पत्ति की मात्रा में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार चक्रवत् आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष चलता रहता है। इसका क्या कारण है ? क्या विशेष प्रकार की आर्थिक पद्धतियों में ही ऐसी संभावना निहित है ?

पूर्वोक्त समस्या से सम्बन्धित आर्थिक परिवर्तन की भी समस्या है। किसी भी देश की आर्थिक स्थिति हमेशा एक सी ही नहीं रहती है। उसमें परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन क्यों और कैसे होता है यह एक महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न है। गत दो तीन शताब्दियों से अनेक देशों में आर्थिक प्रगति देखी गयी है। अन्य देश भी, जो अभी तक अविकसित अथवा अल्प विकसित हैं, प्रगति की ओर प्रयत्नशील हैं। आर्थिक प्रगति की समस्या वर्तमान काल में अर्थशास्त्र का एक प्रधान विषय हो गयी है। अतएव यह जानना आवश्यक है कि भिन्न भिन्न आर्थिक पद्धतियों के अन्तर्गत प्रगति के कौन से तत्त्व वर्तमान हैं और

किन कारणों से इस कार्य में बाधा पड़ती है और किस प्रकार इन बाधाओं को हटाया जा सकता है। किस प्रकार की आर्थिक पद्धति प्रगति में अधिक सहायक होती है यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

पाठकों को एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी भी देश में जो कोई भी आर्थिक कार्य होते हैं अथवा आर्थिक सम्बन्ध होते हैं, वे सभी किसी न किसी प्रकार की आर्थिक पद्धति के ही अन्तर्गत होते हैं। किसी पद्धति की अनेक शाखाएँ और उप-शाखाएँ, विभाग और उप-विभाग होते हैं। यदि एक विभाग में कुछ परिवर्तन होता है तो उससे किसी न किसी मात्रा में सभी विभाग प्रभावित होते हैं। यह जानने और समझने की बात है कि कौन ऐसी शक्ति अथवा प्रबन्ध है जो सभी भागों को इस प्रकार सँजोये हुए है कि आर्थिक व्यवस्था में विश्रुंखलता नहीं आने पाती और यदि आ भी जाती है तो अल्पकालीन ही होती है और उसका प्रतीकार भी हो जाता है। क्या यह एकता स्वाभाविक है अथवा समाज में इस प्रकार की संस्थाएँ और मान्यताएँ स्थापित हो गयी हैं जिससे आर्थिक व्यवस्था विचलित नहीं होने पाती और यदि होने लगती है तो इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि पुनः संतुलन की स्थापना हो जाती है।

अध्याय २

अर्थ व्यवस्था

आर्थिक विश्लेषण

किसी भी देश तथा काल के वास्तविक आर्थिक जीवन और कार्यों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी अर्थ-व्यवस्था की और उसके अन्तर्गत भिन्न भिन्न भागों और उनके सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त की जाय। किसी भी आर्थिक कार्य को ले लीजिए—खेत में, कारखाने में, बाजार में, बैंक में, घर में—यदि गहराई से उसका अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होता है कि वह किसी योजना के अनुसार संपादित होता है। वह चाहे व्यक्ति विशेष की योजना हो, चाहे किसी कम्पनी की हो अथवा सरकार की हो। सभी कार्य योजनाबद्ध होते हैं और सभी योजनाएँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं और एक दूसरे को प्रभावित भी करती रहती हैं। किसी भी योजनाबद्ध आर्थिक क्रिया को पूर्ण रूप से समझने के लिए केवल उसी क्रिया का अध्ययन पर्याप्त नहीं होता है। उस क्रिया से सम्बन्धित अन्य आर्थिक विभागों का भी अध्ययन आवश्यक हो जाता है। और इस बड़ी पृष्ठभूमि पर ही उस आर्थिक क्रिया का वैज्ञानिक रूप से विश्लेषण हो सकता है। किसी आर्थिक क्रिया का वर्णन एक बात है और उसका विश्लेषण दूसरी बात है। वर्णन मात्र से ही किसी क्रिया को ठीक ठीक नहीं समझा जा सकता है। यद्यपि वर्णन की भी अपनी उपयोगिता है। क्योंकि अन्ततोगत्वा सभी आर्थिक कार्य एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, अतएव उनको विधिवत् समझने के लिए विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है।

प्रत्येक देश में किसी भी समय कोई न कोई आर्थिक पद्धति होती है जिसके अन्तर्गत आर्थिक सम्बन्ध स्थापित रहते हैं। यही पद्धति आर्थिक कार्यों को प्रारूप प्रदान करती है और उनका निर्देशन करती है। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि किसी भी देश की आर्थिक पद्धति उन सभी स्वरूपों का समुच्चय है जिनके द्वारा प्रति दिन होने वाली आर्थिक क्रियाओं का निर्धारण होता है। सम्पूर्ण आर्थिक कार्य और सम्बन्ध इसी आर्थिक पद्धति में ही निहित रहते हैं। कोई आर्थिक कार्य किसी विशेष प्रकार से क्यों सम्पादित किया जा रहा है, इसको समझने के लिए उस देश-काल की आर्थिक पद्धति को जानना आवश्यक है, क्योंकि वह कार्य उसी पद्धति के अन्तर्गत है और उसी की पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। कोई भी आर्थिक पद्धति अच्छी है अथवा बुरी; यहाँ पर यह प्रश्न नहीं है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि सभी आर्थिक कार्य किसी विशेष आर्थिक पद्धति के अन्तर्गत ही होते हैं, जो उस समय-विशेष में उपलब्ध रहती है। भिन्न भिन्न आर्थिक पद्धतियों के अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्थाएँ भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं और आर्थिक जीवन भी भिन्न प्रकार का होता है।

आर्थिक पद्धतियों का प्रादुर्भाव

आर्थिक पद्धतियों का कैसा स्वरूप होता है और यह किस प्रकार निर्धारित होता है? जितनी आर्थिक पद्धतियाँ हो गयी हैं और जो इस समय वर्तमान हैं उनका प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ? इस प्रकार के महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं।

प्रादुर्भाव के दृष्टिकोण से आर्थिक पद्धतियों के दो बड़े विभाग किये जा सकते हैं। पहले विभाग की आर्थिक पद्धतियाँ वे हैं जिनकी स्थापना और विकास विशेष परिस्थितियों के प्रभाव से, स्वच्छन्दता से बिना किसी प्रकार की योजना अथवा हस्तक्षेप के हो जाता है। ये पद्धतियाँ भौगोलिक परिस्थितियों, राजनीतिक तथा आर्थिक घटनाओं अथवा अन्य ऐतिहासिक घटनाओं से निर्धारित होती हैं। प्राचीन काल में और मध्यकाल में भी

अधिकतर आर्थिक पद्धतियों का इसी प्रकार प्रादुर्भाव हुआ। अर्वाचीन काल में भी कहीं कहीं यही वस्तुस्थिति पायी जाती है। यह बात नहीं है कि इस प्रकार की पद्धतियों में राज्य का किञ्चिन्मात्र भी हस्तक्षेप नहीं होता हो अथवा राज्य की आर्थिक नीतियों का तत्कालीन पद्धतियों पर बिलकुल ही प्रभाव नहीं पड़ता हो। परन्तु इस प्रकार का हस्तक्षेप किसी सर्वांगीण आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं किया जाता था। किसी परिस्थिति-विशेष का समाधान करने के लिए ही विशेष प्रकार का हस्तक्षेप होता था, न कि सारी आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करने के लिए।

इस प्रकार की आर्थिक पद्धतियों के बारे में जानने के लिए तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों और घटनाओं का ज्ञान आवश्यक है। दुर्भाग्यवश इन देश और कालों से सम्बन्धित इस प्रकार की विश्वस्त सामग्री प्राप्त नहीं है। सामग्री प्राप्त न होने का तात्पर्य यह नहीं है कि उस युग में किसी प्रकार की आर्थिक पद्धति थी ही नहीं, क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया जा चुका है, आर्थिक कार्य आर्थिक पद्धति के अन्तर्गत ही होते हैं। जो कुछ सामग्री यात्रा-लेखों, शिला-लेखों तथा अन्य प्रकार के लेखों में प्राप्त है उसको किसी पद्धति-विशेष में प्रतिष्ठित करना एक कठिन कार्य है। छिटपुट सामग्री के आधार पर जब तक कि उसको किसी ढाँचे में यथास्थान प्रतिष्ठित न किया जा सके, तत्कालीन आर्थिक पद्धति का ज्ञान नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए यदि हम भारत में मौर्य-कालीन अथवा गुप्तकालीन आर्थिक पद्धति को जानना चाहें तो हमको न केवल तत्कालीन आर्थिक तथ्यों का संकलन करना पड़ेगा परन्तु यह भी मालूम करना पड़ेगा कि ये तथ्य सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में किस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित और ग्रथित है। स्पष्ट है कि यह एक बहुत कठिन कार्य है।

दूसरे प्रकार की आर्थिक पद्धतियाँ वे हैं जिनका निर्माण विचार-पूर्वक इस प्रकार से किया जाता है कि वे कुशलता से आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकें। इस प्रकार की आर्थिक पद्धतियों से संलग्न

एक आर्थिक विधान रहता है जिसके सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था निर्धारित होती है। आर्थिक विधान से यह तात्पर्य है कि सारे समाज का आर्थिक जीवन और आर्थिक क्रियाएँ इससे प्रभावित होती हैं। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक देशों में इस प्रकार की आर्थिक पद्धति का विधान किया गया जो निजी सम्पत्ति, आदान-प्रदान की स्वतन्त्रता तथा प्रतिस्पर्धा के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उस काल के अनेक अर्थशास्त्रियों की यह धारणा थी कि इन मान्यताओं तथा सिद्धान्तों पर आधारित अर्थतन्त्र के विविध विभागों में इस प्रकार सामंजस्य और समन्वय हो सकेगा जिससे समाज का अधिकतम हित होगा। इस निर्धारित अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी आर्थिक पद्धति से नामांकित किया गया है। इसका अपना एक ढाँचा है जिसके विविध भाग और उसके सम्बन्ध कतिपय आधारभूत सिद्धान्तों पर अवलम्बित रहते हैं। यह सम्भव है कि इस प्रकार के आर्थिक विधान के अन्तर्गत बनी हुई वास्तविक आर्थिक पद्धति पूर्ण रूप से उन सिद्धान्तों और धारणाओं के अनुकूल न हो तथा कालान्तर में वह निर्धारित मार्ग से स्वलित हो जाय। उदाहरण के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था जो प्रतिस्पर्धा की मान्यता पर आधारित थी उसमें कालक्रम में एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के तत्त्वों का प्रवेश हो गया और इस प्रकार वह अपने विधान से कुछ अंश में च्युत हो गयी। इसी प्रकार समाजवादी अर्थव्यवस्था भी स्वकीय आर्थिक विधान पर प्रतिष्ठित है। परन्तु हो सकता है कि इसके अन्तर्गत वास्तविक आर्थिक पद्धति पूर्ण रूप से इसकी मान्यताओं और सिद्धान्तों के अनुरूप न हो।

आर्थिक विधान पर आधारित आर्थिक पद्धतियाँ आधुनिक काल की देन हैं। प्राचीन काल की आर्थिक पद्धतियाँ अधिकांश में नाना प्रकार की परिस्थितियों की अधीनता में बदलती रहती थीं, यद्यपि यदा कदा उनके किसी विभाग का नियमन किया जाता था। परन्तु संपूर्ण अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कोई इस प्रकार का आर्थिक विधान नहीं रहता था जिसके द्वारा

उसके विविध अवयवों का समन्वय किन्ही सिद्धान्तों पर हो। आधुनिक काल की अर्थव्यवस्था को इस प्रकार की छूट प्राप्त नहीं है। उसमें सम्पूर्ण अर्थतन्त्र को ध्यान में रखा जाता है और कुछ सिद्धान्तों के आधार पर उसका संचालन होता है। इन दो प्रकार से प्रादुर्भूत आर्थिक पद्धतियों को ठीक प्रकार से समझने के लिए उनकी तुलना शहरों के उद्भव से कर सकते हैं। प्राचीन काल के शहर किसी विशेष योजना के अनुसार नहीं बनाये गये। उनका विकास भी किसी पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार नहीं हुआ। भिन्न भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने अपनी निजी योजना के अनुसार मकान, दुकान और कारखाने स्थापित कर लिये और इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ते बढ़ते एक बड़ा शहर स्थापित हो गया। इसी प्रकार प्राचीन काल की आर्थिक पद्धति का भी प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु आधुनिक काल के शहरों की स्थापना एक पूर्ण योजना के अन्तर्गत होती है। कहाँ रहने के मकान होंगे, कहाँ बाजार होगा, कहाँ अस्पताल, डाकखाना, स्कूल, कॉलेज और पार्क होंगे; इन सभी की व्यवस्था इस बड़ी योजना के अन्तर्गत पहले से ही कर ली जाती है और उसी योजना के अनुसार शहर विकसित होता है। आर्थिक विधान के अन्तर्गत जो आर्थिक पद्धतियाँ बनती हैं उनकी तुलना योजनाबद्ध निर्मित शहर से की जा सकती है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि शहरों का विकास शत-प्रतिशत योजना के अनुसार नहीं हो पाता है। इसी प्रकार विधानान्तर्गत आर्थिक पद्धतियाँ भी कुछ बातों में विधान के अनुकूल नहीं पायी जाती हैं।

आर्थिक पद्धतियों का स्वरूप

यहाँ तक तो हमने यह बतलाने का प्रयत्न किया कि आर्थिक पद्धतियों का प्रादुर्भाव किस प्रकार होता है। अब हम उनके स्वरूप और कार्य प्रणाली का वर्णन करते हैं। वास्तविक जगत् में तो आर्थिक पद्धतियों के अनेक स्वरूप पाये जाते हैं। परन्तु यदि हम उनके शुद्ध आदर्श स्वरूप की ओर ध्यान दें तो हमको उनके दो स्वरूप मिलते हैं। अन्य स्वरूप इन्हीं दो स्वरूपों के विकृत रूप हैं।

आर्थिक पद्धति का एक स्वरूप वह है जिसमें सारी आर्थिक व्यवस्था केन्द्र द्वारा नियंत्रित तथा परिचालित होती है। इस पद्धति को हम केन्द्र-निर्देशित अर्थव्यवस्था कहेंगे। इस व्यवस्था की विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थतन्त्र एक केन्द्रीय अधिकारी द्वारा बनायी गयी योजना के अनुसार निर्देशित होता है। दूसरे प्रकार की आर्थिक पद्धति को विनिमय-अर्थव्यवस्था कहते हैं। इसके अन्तर्गत आर्थिक इकाइयाँ अपनी अपनी योजनाएँ बनाने में स्वतन्त्र हैं परन्तु उनकी योजनाओं का समन्वय और संघात विनिमय द्वारा सम्पादित होता है। ऐसी बात नहीं है कि केन्द्र-निर्देशित अर्थव्यवस्था में विनिमय का कार्य होता ही नहीं है। परन्तु यह उसका प्रधान लक्षण नहीं है। यह तत्त्व उसमें गौण रहता है। इसी प्रकार विनिमय अर्थव्यवस्था में केन्द्राधिकारी का पद तो रहता है परन्तु आर्थिक व्यवस्था के संचालन में उसका स्थान गौण रहता है।

केन्द्र-निर्देशित अर्थव्यवस्था

पहले हम केन्द्र-निर्देशित अर्थव्यवस्था का परिचय देंगे। इस अर्थ-व्यवस्था के तीन रूप हो सकते हैं। इसका प्रथम रूप सांगोपांग विशुद्ध केन्द्रीय अर्थ व्यवस्था है। इसके अन्तर्गत विनिमय का बिलकुल स्थान ही नहीं है। उत्पादन के सभी साधन केन्द्र के अधिकार में होते हैं। केन्द्रीय अधिकारी ही इस बात का निश्चय करते हैं कि कौन कौन वस्तुएँ और सेवाएँ किन किन मात्राओं में उत्पन्न की जायँ और किस विधि से उत्पन्न की जाय। इसी केन्द्रीय योजना के अनुसार साधनों का वितरण किया जाता है। उपभोग की वस्तुओं का वितरण भी केन्द्रीय योजना के अनुसार होता है। उपभोक्ताओं को यह अधिकार नहीं होता है कि वे आपस में एक वस्तु का विनिमय दूसरी वस्तु से करें। ऐसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा, मूल्य और बाजार का कोई स्थान अथवा प्रयोग ही नहीं होता है। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था का उदाहरण एक ऐसे स्वावलम्बी कुटुम्ब से दिया जा सकता है जिसके सभी आर्थिक कार्य कुटुम्ब तक ही सीमित रहते हैं। कुटुम्ब के सभी आर्थिक साधन एक मुखिया के अधीन रहते हैं और वही उनका उपयोग

निश्चित करता है। कुटुम्ब का कौन व्यक्ति क्या काम करेगा और कितने समय तक काम करेगा यह मुखिया की इच्छा और उसकी योजना पर ही निर्भर है। योजना बनाने में वह अन्य सदस्यों की राय ले सकता है परन्तु योजना को अन्तिम रूप देने का अधिकार उसी को है। अन्य सभी सदस्यों को उसकी योजना के अनुसार उसके निर्देशन में कार्य करना पड़ता है। उसको आर्थिक डिक्टेटर कहा जा सकता है। उपभोग की वस्तुओं का वितरण भी उसी की योजना के अनुसार होता है। हो सकता है, यह वितरण योग्यता के अनुसार हो अथवा आवश्यकता के अनुसार हो। परन्तु इसका निश्चय मुखिया ही करता है। कुटुम्ब के सदस्यों को जो कुछ भी दिया जाय उसी का वे उपभोग कर सकते हैं। एक दूसरे के साथ वस्तु-विनिमय का उनको अधिकार नहीं रहता है। अतएव एक वस्तु के दूसरी वस्तु से विनिमय-मूल्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। मुद्रा और बाजार की तो आवश्यकता ही नहीं है। किसी समय में इस प्रकार की छोटी छोटी आर्थिक इकाइयों की कल्पना की जा सकती है जो कि अपने ही में पर्याप्त हैं और जिनका एक दूसरे से कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार की इकाई एक कबीले के रूप में हो सकती है जिसका संचालन उन्हीं सिद्धान्तों पर होता है जिनका वर्णन कुटुम्ब की अर्थ-व्यवस्था में किया गया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण बहुत संकुचित रहता है और जीवनस्तर भी अधिक ऊँचा नहीं उठ सकता है। सैद्धान्तिक रूप में सारे समाज की अर्थव्यवस्था भी इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार हो सकती है। परन्तु व्यावहारिक रूप में इसको कार्यान्वित करने में बहुत कठिनता होती है। एक कुटुम्ब अथवा कुनबे में मुखिया स्वयं प्रबन्ध और शासन कर सकता है। उसको अधिक लेखे-जोखे और हिसाब-किताब की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। परन्तु जब हम कुटुम्ब और कुनबे से बढ़कर सारे समाज को लेते हैं, जिसमें लाखों करोड़ों व्यक्ति हैं, जिसमें सैकड़ों प्रकार की वस्तुएँ और सेवाएँ उत्पन्न की जाती हैं, तब इस प्रकार की अर्थव्यवस्था का संचालन अत्यन्त दुष्कर

हो जाता है। मुद्रा, मूल्य, बाजार और हिसाब-किताब की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। यद्यपि सम्पूर्ण आर्थिक योजना केन्द्रीय अधिकारी ही बनाते हैं और उसका निर्देशन भी करते हैं परन्तु उसको सुचारु रूप से सम्पादन करने के लिए एक विशेष प्रकार की शासनव्यवस्था की आवश्यकता होती है। पूर्ण रूप से केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था अपने विशुद्ध रूप में तभी कही जा सकती है जब कि आर्थिक जीवन का प्रत्येक अवयव केन्द्रीय आदेशों द्वारा संचालित होता है और व्यक्ति को किसी प्रकार की आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं रहती है। यह केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था का चरम रूप है।

केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था में विनिमय

केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था के दूसरे रूप में अन्य सभी बातें पहले रूप के अनुसार ही होती हैं परन्तु इस व्यवस्था में उपभोक्ताओं को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वे प्राप्त उपभोग की वस्तुओं का आपस में विनिमय कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि राम और श्याम दोनों को चार-चार रोटियाँ और दो-दो आम मिलते हैं तो उनको यह स्वतन्त्रता रहती है कि वे आपस में वस्तु-विनिमय करके अपनी आवश्यकताओं की अधिकतम तृप्ति कर सकें। हो सकता है कि राम को आम बिलकुल नापसन्द हों और श्याम उन पर जान देता हो। ऐसी अवस्था में राम अपने आम श्याम को देकर उनके बदले श्याम से रोटी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार दोनों को अधिक तृप्ति मिल सकेगी।

इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में एक विशेषता यह है कि वस्तु-विनिमय के फलस्वरूप विनिमय-मूल्य निर्धारित होने लगते हैं। पूर्वोक्त उदाहरण में जब रोटी और आम का विनिमय होता है तो यह निश्चय करना पड़ता है कि एक आम के बदले कितनी रोटियाँ दी जायेंगी। जहाँ अनेक उपभोक्ता हैं और अनेक उपभोग की वस्तुएँ हैं वहाँ इस वस्तु-विनिमय के फलस्वरूप न केवल मूल्य निर्धारित होंगे परन्तु बाजार और किसी प्रकार की मुद्रा का भी प्रादुर्भाव होने लगेगा। बिना मुद्रा की सहायता से विनिमय

की प्रथा कष्टसाध्य होती है। अतएव समाज के लोग किसी वस्तु विशेष को हिसाब-किताब की इकाई अथवा विनिमय का माध्यम बना लेते हैं। उदाहरण के लिए गेहूँ को ही यह पद प्राप्त हो जाय और प्रत्येक वस्तु का विनिमय-मूल्य गेहूँ की मात्राओं में सूचित किया जाय—जैसे १ गाय का मूल्य ४ मन गेहूँ, १ कुर्सी का मूल्य २० सेर गेहूँ, १ आम का मूल्य आधा सेर गेहूँ इत्यादि। हो सकता है कि गेहूँ केवल मूल्यों के मापने का साधन न होकर विनिमय का साधन भी बन जाय। अर्थात् लोग पहले अपनी वस्तु का विनिमय गेहूँ से करे और फिर गेहूँ द्वारा अपनी अभिलषित वस्तु प्राप्त कर ले। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जो वस्तु मूल्य मापने के काम में आती है वही विनिमय के माध्यम का कार्य भी करे।

केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था में एक कठिनाई यह रहती है कि नियोजनाधिकारियों का उपभोक्ताओं से सीधा सम्पर्क नहीं रहता है और उनको उपभोक्ताओं की रुचि के बारे में पर्याप्त ज्ञान नहीं रहता है। यदि उपभोक्ताओं को वस्तु-विनिमय की स्वतन्त्रता रहती है तो इस विनिमय के फलस्वरूप उपभोक्ताओं की रुचि का पता लगाने में सहायता मिलती है। इससे उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन और उनके वितरण में सुविधा होती है।

इस दूसरे प्रकार की अर्थ व्यवस्था में नियोजनाधिकारी की योजना के साथ-साथ उपभोक्ताओं की अपनी निजी उपभोग की योजनाओं का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार योजनाधिकारी अथवा आर्थिक डिक्टेटर की सत्ता उस अंश में संशोधित हो जाती है जहाँ तक उपभोक्ता उन्ही वस्तुओं का उपभोग नहीं करते हैं जो उनको प्रारम्भ में प्राप्त होती हैं। वे आपस में वस्तु-विनिमय के फलस्वरूप अपनी उपभोग की योजना स्वयं बना लेते हैं। अतएव डिक्टेटर की कुल योजना में इस अंश में बदलाव हो जाता है। योजनाधिकारी यदि चाहें तो अपने भविष्य की योजनाओं में इस अनुभव से लाभ उठा सकते हैं और उनमें उपभोक्ताओं की रुचियों का भी कुछ अंश तक समन्वय कर सकते हैं। परन्तु ऐसा करने

से उपभोग की वस्तुओं के वितरण की समस्या कठिन हो जायगी। इससे अच्छा तो यही है कि उत्पादन और प्रारंभिक वितरण तो केन्द्रीय योजना के अनुसार ही हो परन्तु उपभोक्ताओं को इस बात की स्वतन्त्रता हो कि यदि वे चाहें तो उपभोग की वस्तुओं की आपस में अदला-बदली कर लें। इस अदला-बदली के फलस्वरूप यदि योजनाधिकारी को यह अनुभव हो कि उपभोग को वस्तुओं के उत्पादन में साधनों का वितरण ठीक नहीं हुआ है, तो वह उस अंश तक अपनी योजना को संशोधित कर सकता है।

केन्द्रीय व्यवस्था का तीसरा स्वरूप

केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था का तीसरा स्वरूप पहले दो स्वरूपों के समान इस पर निर्भर है कि कौन-कौन सी वस्तुएँ किन-किन परिमाणों में कब और कैसे बनायी जायें यह केन्द्रीय योजनाधिकारी पर ही निर्भर रहता है। परन्तु जहाँ तक उपभोग की वस्तुओं के वितरण का प्रश्न है उस सम्बन्ध में उपभोक्ताओं के लिए उनका पारिश्रमिक अथवा अनुदान वस्तुओं के रूप में अथवा राशन कार्ड के रूप में नहीं होता है। वेतन, पारिश्रमिक इत्यादि मुद्रा के रूप में दिया जाता है। उपभोग की वस्तुओं का बाजार लगता है और मुद्रा के रूप में उनका मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है। उपभोक्ताओं को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपने द्रव्य द्वारा बाजार में उपलब्ध कोई भी वस्तु क्रय कर सकते हैं।

इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था के विश्लेषण करने से हमको अनेक महत्वपूर्ण बातें मालूम होती हैं। पहली बात यह है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा-पद्धति का भी समावेश होता है। केन्द्रीय आर्थिक योजना में मुद्रा, उसके टंकन, उसके परिमाण के नियंत्रण और उसके वितरण का भी अपना स्थान हो जाता है। दूसरी बात यह है कि वस्तुओं का विनिमय-मूल्य मुद्रा के रूप में निश्चित किया जाता है। इस मूल्य को वस्तुओं का मौद्रिक मूल्य अथवा कीमत कहते हैं। हम ऊपर लिख आये हैं कि केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था के दूसरे स्वरूप में भी एक प्रकार के द्रव्य का आविर्भाव हो जाता है जिससे वस्तु-विनिमय में सहायता प्राप्त

होता है। इस तीसरे स्वरूप में द्रव्य का अधिक विकास हो जाता है। केन्द्रीय अधिकारी ही इस बात का निश्चय करते हैं कि देश की मुद्रा कैसी हो, किस वस्तु से निर्मित हो और किस प्रकार उसका संचालन हो। तीसरी बात इस आर्थिक व्यवस्था में बाजार की स्थापना है जहाँ निर्धारित मूल्य पर उपभोग की वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है।

उपभोग की स्वतन्त्रता

चौथी और विशेष महत्वपूर्ण बात इस तीसरे स्वरूप की केन्द्रीय व्यवस्था में उपभोक्ता की स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता तो कुछ अंश में दूसरे स्वरूप में भी थी। परन्तु तीसरे स्वरूप में यह अधिक विकसित हो जाती है और आर्थिक योजना पर अधिक प्रभाव डाल सकती है। उपभोक्ताओं को आय द्रव्य के रूप में प्राप्त होती है और उनको स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपनी आय को बाजार में उपलब्ध उपभोग की वस्तुओं पर जिस प्रकार चाहें खर्च करें। स्पष्ट है कि उपभोक्ता अपनी आय को अपनी आवश्यकताओं की तीव्रता और प्राथमिकता के अनुसार ही विविध वस्तुओं पर विविध परिमाण में खर्च करेंगे। भविष्य के उपभोग के लिए भी वे द्रव्य के रूप में बचत कर सकते हैं। इस प्रकार उपभोक्ताओं को अपनी स्वतन्त्रता के फलस्वरूप अधिक तृप्ति प्राप्त हो सकेगी।

केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था का यह तीसरा स्वरूप ही वास्तविक जगत् में पाया जाता है। पहला स्वरूप तो केवल सैद्धान्तिक आदर्श रूप है। तीसरे स्वरूप में केन्द्र-निर्धारित आर्थिक योजना के समक्ष उपभोक्ताओं की अपनी उपभोग की योजनाएँ भी रहती हैं जो कि केन्द्रीय योजना को विशेष रूप से प्रभावित कर सकती हैं। नियोजनाधिकारी के समक्ष एक प्रमुख प्रश्न यह होता है कि विविध उपभोग की वस्तुओं को किन-किन मात्राओं में उत्पन्न किया जाय। यद्यपि आर्थिक तानाशाही के अन्तर्गत यह आवश्यक नहीं है कि उपभोक्ताओं की रुचि की ओर ध्यान दिया जाय, तथापि यदि किसी प्रकार से योजनाधिकारी को उपभोक्ताओं की रुचियों का बोध हो सके और वह उसके अनुसार ही देश के साधनों

का विविध उद्योग धन्धों में वितरण करे तो इस प्रबन्ध से समाज में अधिक सुख-सन्तोष की सम्भावना रहती है। बाजार में क्रय-विक्रय का अध्ययन करने से अप्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ताओं की रुचियों के तारतम्य का पता लग सकता है। उदाहरण के लिए यदि जूतों के बाजार में किसी अवधि विशेष में निर्धारित मूल्यों पर सभी जूते बिक जायें फिर भी क्रेताओं की भीड़ जूतों की दुकानों पर बनी रहे तो इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस वस्तु के उत्पादन में वृद्धि करने की आवश्यकता है। इसके प्रतिकूल यदि टोपियों की दुकानों पर टोपियों का ढेर लगा हुआ है और पर्याप्त क्रेता नहीं है, तो इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस उद्योग में आवश्यकता से अधिक साधन लगा दिये गये हैं और भविष्य में इस उद्योग को संकुचित करना हितकर होगा। इस प्रकार से बाजार का विश्लेषण करने पर यदि योजनाधिकारी चाहें तो भविष्य के उत्पादन को उपभोक्ताओं की रुचियों के अनुसार योजनान्वित कर सकते हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है।

मुद्रा, बाजार और मौद्रिक मूल्य की सहायता से योजनाधिकारी को अपनी योजना को कार्यान्वित करने में सहायता मिल सकती है। उदाहरण के लिए यदि राज्य अथवा डिक्टेटर के दृष्टिकोण से समाज के व्यक्तियों को अधिक दूध पीना चाहिए, तो योजना में न केवल दूध के उत्पादन में अधिक साधन लगाये जायेंगे, परन्तु दूध का मूल्य घटाकर उपभोक्ताओं को अधिक दूध खरीदने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। उत्पादन-मूल्य से भी कम मूल्य पर इस वस्तु का विक्रय किया जा सकता है अथवा कुछ लोगों को, जैसे बच्चों और गर्भिणी स्त्रियों को इसका निःशुल्क वितरण भी हो सकता है। इसके विपरीत यदि शराब का उपभोग कम करने की योजना हो तो उसका मूल्य इतना बढ़ाया जा सकता है कि उतने मूल्य पर उसकी माँग पर्याप्त मात्रा में घट जाय। इस प्रकार नियोजनाधिकारी विविध वस्तुओं के मौद्रिक मूल्यों में इस प्रकार बदलाव कर सकते हैं जिससे उनकी आर्थिक योजना को उनके लक्ष्यों के अनुसार

कार्यान्वित होने में सहायता मिल सके। मूल्य-प्रणाली का यह कार्य केन्द्र-नियोजित आर्थिक पद्धति में जिस प्रयोजन के निमित्त लिया जाता है अथवा लिया जा सकता है वह प्रयोजन स्वतन्त्र आर्थिक पद्धति से भिन्न है, जैसा कि हम अगले अध्याय में अधिक स्पष्ट करेंगे।

योजनाधिकारी यदि यह निश्चित करें कि उपभोक्ताओं को उपभोग की वस्तुएँ कम मात्रा में प्राप्त हों तो मूल्य को बढ़ाकर ही नहीं अपितु द्रव्य रूप में पारिश्रमिक कम करके भी वे ऐसी स्थिति ला सकते हैं। इसी प्रकार पारिश्रमिक बढ़ाकर और मूल्यों में बदलाव न करके उपभोक्ताओं को अधिक मात्रा में नियोजनानुसार उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त कराया जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त यदि भिन्न-भिन्न उपभोक्ताओं को भिन्न-भिन्न मात्राओं में उपभोग की वस्तुएँ प्रदान करनी हों तो उनके पारिश्रमिक में अनुपातात्मक कमी अथवा वृद्धि करके ऐसा किया जा सकता है।

इस प्रकार योजनाधिकारी उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता को भी सीमित तथा प्रभावित कर सकते हैं। परन्तु यदि केन्द्रीय योजना उपभोक्ताओं की रुचि और उनकी आवश्यकताओं की प्राथमिकता को ध्यान में रखकर बनायी जाय और उनमें बदलाव होने पर योजना में भी बदलाव कर दिया जाय तो इस प्रकार की केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था एक प्रकार से विनिमय-अर्थव्यवस्था के समान ही हो जाती है।

केन्द्रीय व्यवस्था की विशेषता

केन्द्र-निर्देशित अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण है। केन्द्र को अधिकार रहता है कि वह सम्पूर्ण देश के लिए योजना बनाये, कौन-कौन सी वस्तुएँ किन-किन परिमाणों में बनायी जायँ इसका निर्णय करे, कच्चे माल और अन्य उत्पादन सामग्रियों का भिन्न-भिन्न उद्योगों में वितरण करे, श्रमिकों को भिन्न-भिन्न कार्यों में लगाये और उनका पारिश्रमिक (वस्तु अथवा द्रव्य के रूप में) निर्धारित

करे, और सारे आर्थिक कार्यों का आदेश द्वारा सम्पादन करवाने का प्रबन्ध करे।

स्पष्ट है कि इतना बड़ा काम केवल एक व्यक्ति नहीं कर सकता है। अतएव योजना के निर्माण के लिए और विधिवत् उसका संचालन तथा नियंत्रण करने के लिए विशेषज्ञों और प्रशासकों की आवश्यकता होती है। इनकी सहायता से योजना के विविध भागों और विभागों का संयोजन और समन्वय किया जाता है और स्वीकृत योजना को कार्य रूप में परिणत करवाया जाता है।

सम्भव है कि केन्द्र-निर्मित योजना को कार्य रूप में परिणत करने के अवसर पर उसमें त्रुटियाँ पायी जायें। जो अधिकारी योजना के सम्पादन में नियुक्त रहते हैं वे योजनाधिकारी का ध्यान इन त्रुटियों की ओर आकर्षित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि सूती वस्त्र उद्योग के कारखानों के मैनेजरो को प्रति वर्ष १५ लाख गज कपड़ा तैयार करने का आदेश योजना के अन्तर्गत दिया गया हो परन्तु कपास उत्पन्न करनेवाले, सूत कातनेवाले तथा अन्य सम्बन्धित उद्योग धन्धे इन कारखानों को पर्याप्त सामग्री उपलब्ध न करा सकें तो कपड़ा उत्पादन का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकेगा। योजना में संशोधन करने की आवश्यकता हो जायेगी।

इस प्रकार यद्यपि योजना के स्वरूप का अन्तिम निर्णय एक ही व्यक्ति डिक्टेटर के रूप में अथवा योजनासमिति लेती है, परन्तु इसके पीछे अनेक प्रकार के विशेषज्ञों, निरीक्षकों और प्रशासकों का सहयोग होना अनिवार्य है।

अध्याय ३

विनिमय-अर्थव्यवस्था

फर्म और कुटुम्ब

पिछले अध्याय में आर्थिक पद्धति के दो विशुद्ध आदर्श रूप बतलाये गये थे। एक केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था वाला रूप, जिसका विवेचन किया जा चुका है और दूसरा विनिमय अर्थ-व्यवस्था वाला रूप, जिसका विवेचन इस अध्याय में किया जायगा।

शुद्ध विनिमय अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत दो संस्थाओं की परिकल्पना की जाती है। एक संस्था को हम “फर्म” के नाम से संबोधित करेंगे। फर्म एक ऐसी आर्थिक इकाई है जो आर्थिक साधनों का क्रय करती है, वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करती है और उनका विक्रय करती है। दूसरी संस्था को कुटुम्ब” की संज्ञा देंगे। कुटुम्ब में उत्पादन का कार्य नहीं होता है। उसमें केवल उपभोग ही होता है। कुटुम्ब फर्मों से उपभोग की वस्तुओं का क्रय करते हैं। कुटुम्ब की आय फर्मों को श्रम और बचत प्रदान करने के फलस्वरूप होती है। फर्म उत्पादन करते हैं और कुटुम्ब उपभोग करते हैं। दोनों कार्यों में विनिमय की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक फर्म की अपनी-अपनी उत्पादन की योजना होती है। इसी प्रकार प्रत्येक कुटुम्ब की भी अपनी अपनी उपभोग की योजना होती है। अब यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें हजारों लाखों की संख्या में उत्पादक फर्में होती हैं और इससे भी अधिक परिवार होते हैं और जिनका आपस में कोई सीधा सम्पर्क भी नहीं होता है, किस प्रकार इन सभी का सामंजस्य होता

है और एक पद्धति स्थापित हो जाती है जिसके अन्तर्गत सभी अवयव एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर आर्थिक कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था केन्द्र द्वारा नियोजित अथवा संचालित नहीं होती है। विनिमय अर्थ-व्यवस्था में एक फर्म अथवा एक परिवार सारे अर्थतन्त्र का एक नगण्य भाग होता है। उसकी अपनी योजना अपने में ही पूर्ण नहीं होती है। वह अन्य उसी प्रकार की योजनाओं से सम्बन्धित रहती है। प्रत्येक फर्म के मैनेजर को और प्रत्येक कुटुम्ब के मुखिया को एक-दूसरे की योजनाओं और कार्यों के संदर्भ में अपनी योजना बनानी पड़ती है और उनमें बदलाव होने से समय-समय पर अपनी योजना को भी बदलना पड़ता है। आर्थिक इकाइयों का एक-दूसरे से संघर्ष होता रहता है। वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और एक-दूसरे से प्रभावित होती हैं। इन सभी आर्थिक इकाइयों और उनके आर्थिक कार्यों का समन्वय विनिमय पर आधारित रहता है। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के भिन्न-भिन्न अंगों का सामंजस्य विनिमय द्वारा ही सम्पन्न होता है। यह किस प्रकार होता है ?

हिसाब-किताब की इकाई

इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर निम्न प्रकार से दिया जा सकता है। जिस अर्थपद्धति में अनेक आर्थिक इकाइयों के बीच विनिमय होता है उसमें मूल्य प्रकट करने के लिए हिसाब-किताब की इकाई की परम आवश्यकता हो जाती है। इसी के द्वारा पृथक्-पृथक् योजनाओं का समन्वय होता है। बिना इस प्रकार की इकाई की सहायता के किसी फर्म का मैनेजर अथवा कुटुम्ब का मुखिया अपनी वास्तविक आर्थिक योजना नहीं बना सकता है। वस्तु विनिमय की प्रथा में, जिसमें एक वस्तु का विनिमय सीधे दूसरी वस्तु से किया जाता है और जिसमें मूल्य प्रकट करने के लिए हिसाब-किताब की इकाई का प्रयोग नहीं होता, यह कार्य दुष्कर होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई कपड़ा उत्पादन करनेवाली फर्म अपने श्रमिकों को आटा, दाल इत्यादि पारिश्रमिक के रूप में देती है

परन्तु उसको कपड़े के विनिमय में जूते और ऊन प्राप्त होते हैं, तो बि किसी हिसाब-किताब की इकाई की सहायता से वह यह मालूम नहीं व सकती है कि उसने कुल कितना दिया और उसको कुल कितना प्रा हुआ। क्योंकि आटा-दाल और जूते-ऊन के परिमाण को परस्पर जोड़ घटाया नहीं जा सकता है। और जब तक कुल आय और कुल व्यय व हिसाब नहीं लगाया जा सकता है तब तक यह कैसे मालूम हो सकता कि उस उत्पादन कार्य में लाभ हुआ है अथवा हानि। विनिमय के लि जो वस्तु बनायी जाती है उसका उत्पादन लाभप्रद है अथवा नहीं औ यदि लाभप्रद है तो अन्य वस्तुओं के उत्पादन की तुलना में कम अथवा अधिक लाभप्रद है; इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर बिना हिसाब-किता की इकाई की सहायता के नहीं हो सकता है। और जब तक इस प्रका का हिसाब नहीं किया जाता तब तक कोई भी फर्म कौन-सी वस्तु व उत्पादन करे और किस विधि से उत्पादन करे, इस बात का ठीक निश्च नहीं कर सकती है।

इतिहास बतलाता है कि मनुष्यों ने इस प्रकार की समस्या व समाधान किसी एक वस्तुविशेष को हिसाब-किताब के लिए प्रमाण मान कर किया है और इसकी सहायता से विविध व्यक्तियों की योजना व एकीकरण किया है। अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग इस कार्य ः लिए किया गया है। हिसाब की वस्तु काल्पनिक भी हो सकती है औ वास्तविक भी हो सकती है। हिसाब-किताब किसी भी व्यक्ति ः लिए, चाहे वह उत्पादक हो अथवा उपभोक्ता हो, अपनी योजना व बनाने में और उसका अन्य योजनाओं के साथ सामंजस्य करने में बहु आवश्यक होता है। ऊपर दिये गये उदाहरण में हिसाब-किताब व इकाई की सहायता से कपड़ा उत्पादन करनेवाली फर्म यह मालूम क सकती है कि कुल उत्पादन व्यय कितनी इकाई हुआ और कुल आ कितनी इकाई हुई। इन दोनों का अन्तर लाभ अथवा हानि का द्योत है। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कि इस समाज ने कौड़ी व

हिसाब-किताब की इकाई के रूप में मान लिया, अर्थात् सभी वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य कौड़ियों की संख्या में प्रकट किया जाने लगा। ऐसी व्यवस्था में कपड़े के कारखाने का मैनेजर यह मालूम कर सकता है कि उसका कुल उत्पादन व्यय कितनी कौड़ियों के बराबर हुआ और उसकी कुल आय कितनी कौड़ियों के बराबर हुई। यदि कुल आय २० लाख कौड़ी और कुल व्यय १८ लाख कौड़ी हुआ तो लाभ २ लाख कौड़ियों के बराबर हुआ।

वस्तु-विनिमय की समस्या

इस प्रकरण में द्रव्य और मुद्रा के विकास के बारे में भी जानना आवश्यक है। हिसाब-किताब की इकाई के द्वारा आर्थिक कार्यों में बहुत सहायता मिलती है यह हम बतला चुके हैं। परन्तु साथ ही साथ विनिमय के कार्य को सुगमतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए मूल्य प्रकट करने के अतिरिक्त विनिमय के माध्यम की भी आवश्यकता होती है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु से सीधा विनिमय भी होता है और हो सकता है, जैसे कपड़े के विनिमय में गेहूँ और जूते के विनिमय में चावल इत्यादि। परन्तु इस प्रकार का वस्तु-विनिमय एक अविकसित प्राचीन अर्थ-व्यवस्था में ही होता है जिसमें वस्तुओं की संख्या बहुत कम होती है और उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं का सुगमता से एक-दूसरे के साथ सम्पर्क हो सकता है। परन्तु जैसे-जैसे अर्थ-तन्त्र विकसित होता जाता है उसमें श्रम विभाग और विशिष्टीकरण की वृद्धि होती है। ऐसी परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए अनेक उत्पादकों पर निर्भर रहता है और उत्पादक भी एक सीमित बाजार के लिए ही नहीं परन्तु सारे प्रान्त, देश और विदेशों के लिए भी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में वस्तु-विनिमय बहुत कठिन हो जाता है जो विकास के कार्य में रुकावट उत्पन्न करता है। वस्तु-विनिमय में समय भी बहुत नष्ट होता है। उदाहरण के लिए कपड़े वाली फर्म को ही लीजिए। मान

लीजिए यह एक जुलाहे की कर्म है और जुलाहे को कपड़े के बदले जूता लेना है। अब जुलाहे को एक ऐसे व्यक्ति को ढूँढ निकालना है जिसको कपड़े की आवश्यकता है और उसके विनिमय में देने के लिए उसके पास जूता भी है। हो सकता है कि जूते बनानेवाले को कपड़े की नहीं परन्तु गेहूँ की आवश्यकता हो। यह कार्य और भी कठिन हो जाता है यदि जुलाहे को आटा, चावल, दाल, नमक इत्यादि दस पाँच वस्तुओं की आवश्यकता हो। ऐसा व्यक्ति तो ढूँढने पर भी शायद ही मिल सकेगा जिसको कपड़े की आवश्यकता हो और उसके पास जुलाहे की आवश्यकताओं की सभी वस्तुएँ विनिमय के लिए उपलब्ध हों। जुलाहे को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से सम्पर्क करना पड़ेगा और हो सकता है कि उसको पूर्ण सफलता न मिले। वस्तु-विनिमय के कार्य में एक और भी कठिनता है। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी इकाई बड़ी होती है और उनके छोटे-छोटे टुकड़े नहीं किये जा सकते हैं, क्योंकि ऐसा करने पर उस वस्तु की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी बड़ई ने एक मेज बनायी और उसको मेज के बदले आटा, दाल, कपड़ा इत्यादि प्राप्त करना है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ऐसा संयोग, असम्भव-सा ही है कि बड़ई को ऐसा व्यक्ति मिल जाय जिसको मेज की आवश्यकता हो और उसके बदले वह उन सभी वस्तुओं को दे सके जिनकी आवश्यकता बड़ई को है। अब यदि बड़ई को अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए पाँच व्यक्तियों से सम्पर्क करना पड़ता है तो वह उनके साथ एक मेज की सहायता से विनिमय का कार्य किस प्रकार सम्पादित कर सकता है। मेज के टुकड़े-टुकड़े करने पर तो मेज की उपयोगिता ही समाप्त हो जाती है और उन अलग-अलग टुकड़ों का मूल्य मेज के मूल्य से बहुत कम रह जाता है। वस्तु-विनिमय प्रथा में यह भी एक बहुत बड़ी समस्या है।

विनिमय का माध्यम द्रव्य

इन समस्याओं के समाधान के लिए समाज में विनिमय के माध्यम की

आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके लिए कोई विशेषवस्तु चुन ली जाती है जिससे विनिमय के कार्य में सुगमता हो जाती है। उत्पादक लोग पहले अपनी वस्तुओं का विनिमय माध्यम-वस्तु से करते हैं और फिर उस माध्यम-वस्तु की सहायता से अन्य वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विनिमय की शृंखला में एक कड़ी और जुड़ जाती है, अर्थात् एक वस्तु का विनिमय दूसरी वस्तु से सीधा न होकर एक अन्य वस्तु के माध्यम के द्वारा सम्पन्न होता है। इस अन्य वस्तु को, जो विनिमय के माध्यम का कार्य करती है, हम “द्रव्य” कहेंगे। अनेक वस्तुएँ भिन्न-भिन्न देश और कालों में द्रव्य के कार्य के लिए स्वीकृत की गयीं। अन्ततोगत्वा कतिपय विशेष गुणों के कारण सोना, चाँदी इत्यादि धातुओं से द्रव्य का काम लिया जाने लगा। द्रव्य में एक मुख्य गुण सर्वमान्यता होना चाहिए, अर्थात् वह ऐसी वस्तु होनी चाहिए जिसको सब लोग स्वीकार कर लें। इसी प्रकार की वस्तु की सहायता से अन्य वस्तुओं को प्राप्त करने में सुगमता होती है। द्रव्य में टिकाऊपन, समानता, विभाजनशीलता इत्यादि अन्य गुण भी वाञ्छित हैं। ये सभी गुण सोने तथा चाँदी में पाये जाते हैं। अतएव द्रव्य के कार्य के लिए यही धातु स्वीकृत भी हुई।

द्रव्य-मान

धातु वाली द्रव्य-पद्धति को धातुमान कहते हैं। यदि सोना द्रव्य की प्रामाणिक धातु माना जाता है तो उस पद्धति को स्वर्णमान और यदि चाँदी प्रामाणिक मानी जाती है तो उसको रजतमान कहा जाता है। यदि सोना और चाँदी दोनों साथ-साथ प्रामाणिक धातु माने जाते हैं तो उसको द्विधातु-मान की संज्ञा दी जाती है। द्रव्य के विकास में इन सभी द्रव्यमानों का प्रयोग हुआ है।

मुद्रा

लेन-देन की सुगमता के लिए सोने और चाँदी के छोटे-बड़े टुकड़ों के स्थान पर सिक्कों के रूप में उनका मुद्रण होने लगा और इस प्रकार के

द्रव्य को मुद्रा^१ कहा जाने लगा। इन मुद्राओं में एक निर्धारित परिमाण में शुद्ध सोना अथवा चाँदी रहती है जिसकी गारंटी की जाती है। यह गारंटी मुख्य रूप से राज्याधिकारी ही दे सकता है जिसको देश भर में मान्यता प्राप्त होती है। इस कारण से और कुछ अन्य कारणों से भी सिक्का ढालने का एकाधिकार राज्य के हाथ में चला गया। राज्य द्वारा ही विविध प्रकार की धातुमुद्राओं का टंकन, प्रचालन और नियंत्रण होने लगा।

कालान्तर में यह अनुभव किया गया कि विनिमय के माध्यम के कार्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सोने अथवा चाँदी के सिक्के चलन में रहें। यह कार्य एक ऐसे प्रमाण-पत्र द्वारा भी हो सकता है जिसमें प्रमाण-पत्रों का निर्गमन करनेवाली संस्था यह गारंटी दे कि इसके बदले माँगने पर तुरन्त ही प्रामाणिक धातु-मुद्रा उपलब्ध की जायगी। इस प्रकार के प्रमाण-पत्रों को पत्र-मुद्रा अथवा “नोट” कहा जाने लगा। प्रारम्भ में इनका निर्गमन निजी बैंक करते थे, बाद में इनके नियंत्रण और प्रबन्ध की आवश्यकता जान पड़ी और इस कार्य को भी राज्य ने अपने हाथ में ले लिया। आजकल सभी देशों में नोटों का निर्गमन केन्द्रीय बैंकों द्वारा होता है। प्रारम्भ में नोट विनिमय-साध्य थे, अर्थात् उनके बदले सोना-चाँदी मुद्रित अथवा अमुद्रित रूप में प्राप्त हो सकता था। बाद में नोट अविनिमय-साध्य हो गये। आजकल नोटों के बदले सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक सोना-चाँदी देने को बाध्य नहीं हैं।

धातु-मुद्रा और नोटों के अतिरिक्त वर्तमान काल में एक अन्य प्रकार के द्रव्य का उपयोग बढ़ती हुई मात्रा में होने लगा है। यह वह द्रव्य है

१—इस अर्थ को विस्तृत करके सभी प्रकार के द्रव्यों को मुद्रा कहा जाता है। नोट को “पत्र-मुद्रा” कहा जा सकता है क्योंकि वह पत्र अथवा कागज में मुद्रित अर्थात् छपा रहता है। परन्तु बैंकों द्वारा प्रचालित “साख-द्रव्य” का मुद्रण नहीं होता है। यद्यपि कुछ लेखक उसको “साख-मुद्रा” कहते हैं।

जिसका सर्जन व्यापारिक बैंक करते हैं और जिसका हस्तांतरण और स्थानान्तरण चेक द्वारा होता है। बैंक धरोहर के बदले अथवा ऋण के रूप में इस प्रकार के द्रव्य का सर्जन तथा प्रचलन करते हैं। इस द्रव्य की स्वीकृति बैंकों की साख के आधार पर रहती है। अतएव इसको “साख-द्रव्य” कह सकते हैं। इस साख-द्रव्य के बदले बैंकों को माँगने पर राज्य-प्रमाणित द्रव्य (धातु-मुद्रा अथवा नोट) देना पड़ता है। अधिकतर चेक पानेवाले उनको अपने बैंकों में जमा कर देते हैं और उसके आधार पर स्वयं चेक काटते हैं और उनके पानेवाले भी अधिकतर उनको अपने-अपने बैंकों में जमा कर देते हैं और उसके आधार पर स्वयं चेक काटते हैं। इस प्रकार बहुत कम चेक भुनाये जाते हैं अर्थात् उनके बदले धातु-मुद्रा अथवा नोट माँगे जाते हैं। इस प्रकार चलन में साख-द्रव्य का परिमाण नोट और धातु-मुद्रा (जिसको नकदी भी कहा जाता है) के परिमाण से कई गुना अधिक हो जाता है।

क्रय-विक्रय

वर्तमान काल में द्रव्य धातु-मुद्रा, नोट और साख-द्रव्य के रूप में पाया जाता है और इन्हीं से विनिमय के माध्यम का काम लिया जाता है। एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार इस माध्यम से अर्थ-व्यवस्था (विशेष कर आधुनिक काल की श्रम-विभाग-विशिष्टीकरण बड़े परिमाण में उत्पन्न करने वाली अन्तर्देशीय अर्थ-व्यवस्था) के संचालन में सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए अपने परिचित जुलाहे को ले लीजिए। अब उसको जूते बनानेवाले को ढूँढने की आवश्यकता नहीं रहती है। वह अपने कपड़े का विनिमय द्रव्य के रूप में कर लेता है और फिर द्रव्य का विनिमय उन वस्तुओं में कर लेता है जिनकी उसको आवश्यकता है। द्रव्य के रूप में वह बचत भी कर सकता है। इसी प्रकार बढ़ई को भी अपनी मेज के बदले द्रव्य प्राप्त हो जाता है जिसकी सहायता से वह भी अपनी वांछित वस्तुएँ प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उत्पादक

निश्चित होकर अपना सभी समय उत्पादन कार्य में लगाकर अधिक वस्तुएँ उत्पन्न कर सकता है।

इस प्रकरण में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि वस्तु विनिमय की प्रथा में विनिमय का संपूर्ण काम एक ही बार में पूरा हो जाता है, परन्तु द्रव्य के माध्यम से विनिमय के दो भाग हो जाते हैं। एक भाग अपनी बनायी हुई वस्तु अथवा अपने श्रम को द्रव्य में विनिमय करना है। इस क्रिया को विक्रय अथवा बेचना कहते हैं। दूसरा भाग प्राप्त द्रव्य का अन्य वस्तुओं अथवा सेवाओं में विनिमय करना है। इस कार्य को क्रय अथवा खरीदना कहते हैं। वस्तु-विनिमय की प्रथा में क्रय और विक्रय दोनों कार्य एक ही क्रिया में सम्पन्न हो जाते हैं, परन्तु द्रव्य के माध्यम वाली प्रथा में दोनों कार्यों के बीच समय का व्यवधान हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वस्तुओं और सेवाओं के विक्रय से जो द्रव्य प्राप्त होता है उसको विक्रेता तुरन्त ही क्रय के रूप में काम में नहीं लाते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप कुछ उत्पादकों की वस्तुएँ नहीं बिक पाती हैं। यदि ऐसी परिस्थिति बड़ी मात्रा में अर्थ-तन्त्र के एक बड़े भाग में हो जाय और कुछ समय तक बनी रहे तो इससे आर्थिक संकट होने की सम्भावना हो जाती है। उत्पादित वस्तुओं के सामान्य मूल्य पर दीर्घ काल तक न बिकने के कारण उत्पादकों को मूल्य घटाना पड़ता है, जिससे उनका लाभ कम हो जाता है। कुछ उत्पादकों को हानि भी होने लगती है। इसके फलस्वरूप उत्पत्ति की मात्रा में कमी कर दी जाती है। आर्थिक साधनों विशेष कर श्रमिकों में बेकारी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था संकट-ग्रस्त हो जाती है। द्रव्य द्वारा कार्य सम्पादित करनेवाली विनिमय-अर्थ-व्यवस्था में यह एक विशेष संकट की स्थिति यदा-कदा उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति पर अगले किसी अध्याय में अधिक प्रकाश डाला जायगा।

साधारणतः जो वस्तु विनिमय के माध्यम का कार्य करती है उसी से हिसाब-किताब की इकाई का काम भी लिया जाता है। उदाहरण के

लिए भारत में रुपया, चाहे वह धातु निर्मित हो अथवा कागज पर छपा हो, विनिमय का माध्यम है। हिसाब किताब की इकाई भी रुपया ही है अर्थात् रुपये (अथवा उसके हिस्से में) मूल्य प्रकट किया जाता है। उदाहरण के लिए गाय का मूल्य दो सौ रुपया, जूते का मूल्य बीस रुपया इत्यादि। रुपया देकर मूल्य चुकता भी किया जाता है। रुपया उधार भी दिया जाता है और उसका भुगतान भी उसी रूप में होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश में रुपये से दोनों काम; हिसाब-किताब की इकाई और विनिमय-माध्यम के काम लिये जाते हैं। अन्य देशों में भी ऐसा ही होता है। कभी-कभी विशेष परिस्थितिबश किसी देश में कुछ समय के लिए इन दो कार्यों के लिए दो प्रकार के द्रव्य भी हो सकते हैं।

स्वतन्त्र द्रव्य-मान

यहाँ तक हमने इस बात को बताने की चेष्टा की कि विनिमय-अर्थ-व्यवस्था के संचालन के लिए हिसाब-किताब की इकाई और द्रव्य-मान की आवश्यकता होती है। द्रव्य-मान धातु पर अथवा अविनिमय-साध्य नोट पर आधारित होता है। धातु पर आधारित द्रव्य-मान के अन्तर्गत आर्थिक कार्यों के संचालन में सुगमता नहीं रहती है क्योंकि इसके परिमाण को आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता है और इसके नियम इतने कठोर होते हैं कि उनका विधिवत् पालन करने वाले देश की अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित हो जाती है। अतएव गत तीन दशकों से प्रायः सभी देशों ने अपनी द्रव्य-प्रणाली को धातु से स्वतन्त्र कर लिया है। अर्थात् अविनिमय-साध्य द्रव्य-पद्धति को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार की द्रव्य-पद्धति में द्रव्य का परिमाण मौद्रिक धातु के परिमाण पर निर्भर नहीं रहता है। द्रव्य-निर्गमनाधिकारियों (सरकार, केन्द्रीय तथा व्यापारिक बैंक) को इससे द्रव्य का प्रबन्ध और नियन्त्रण आर्थिक परिस्थिति के अनुसार करने में अधिक सुगमता हो गयी है।

बाजार

विनिमय-अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए एक और संस्था की आवश्यकता होती है। वह संस्था है मार्केट अर्थात् बाजार। क्योंकि उत्पादक अन्य व्यक्तियों की माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन करते हैं अतएव माँग और पूर्ति का मेल आवश्यक हो जाता है। यह मेल बाजार द्वारा होता है। क्रेता और विक्रेताओं की माँग और पूर्ति का संबंध ही बाजार है। फर्मों और कुटुम्बों की योजनाएँ भी बाजार द्वारा निर्धारित और प्रभावित होती हैं।

बाजार के अनेक रूप होते हैं। ये रूप प्रधानतया इस बात पर निर्भर रहते हैं कि माँग और पूर्ति में कोई प्रतिबन्ध है अथवा वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। माँग और पूर्ति की स्वतन्त्रावस्था तब होती है जब कि प्रत्येक क्रेता और विक्रेता की पहुँच बाजार में निर्बाध रूप से होती है और प्रत्येक को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वह जो चाहे और जिस मात्रा में चाहे बेचे अथवा खरीदे। यदि प्रत्येक क्रेता अथवा विक्रेता की बाजार में पहुँच नहीं है और क्रय-विक्रय की स्वाधीनता नहीं है तो माँग और पूर्ति प्रतिबन्धित हो जाती हैं। इस प्रकार का प्रतिबन्ध सरकार लगा सकती है। उदाहरण के लिए सरकार मादक वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग पर कानून द्वारा प्रतिबन्ध लगा सकती है। अथवा इस प्रकार का प्रतिबन्ध परम्परा, आचार-विचार और सामाजिक मान्यताओं के फलस्वरूप भी हो सकता है। उत्पादक और उपभोक्ता अपने संघों द्वारा भी प्रतिबन्ध लगा सकते हैं।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा का बाजार

जिस बाजार में क्रेताओं और विक्रेताओं को अपनी माँग और पूर्ति के विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और कहीं से भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता है, इस प्रकार के बाजार को पूर्ण प्रतिस्पर्धा का बाजार कहा जाता है। अर्थात् इस प्रकार के बाजार में क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच पूर्ण प्रतिस्पर्धा रहती है। कोई एक क्रेता अथवा एक विक्रेता केवल

अपनी माँग और पूर्ति से बाजार को तथा वस्तुओं के मूल्यों को प्रभावित नहीं कर सकता है, क्योंकि कुल माँग और पूर्ति में उसका स्थान नगण्य होता है (यद्यपि सभी क्रेता और विक्रेताओं की सम्मिलित माँग और पूर्ति मूल्यों को निर्धारित करती है)। किसी भी क्रेता और विक्रेता को अथवा उत्पादक और उपभोक्ता को जो मूल्य बाजार में निर्धारित हो जाता है उसी को स्वीकार करना पड़ता है और उसी के आधार पर अपनी योजना बनानी पड़ती है। शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण प्रतिस्पर्धा के आधार पर ही आर्थिक विषयों और सम्बन्धों की विवेचना की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समाज का आर्थिक हित इसी बात पर निर्भर है कि बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो, एकाधिकारी तत्व का अर्थ-तन्त्र में प्रवेश न हो और राज्य द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाया जाय। स्पष्ट है कि इस प्रकार का विशुद्ध प्रतियोगितात्मक बाजार वास्तविक रूप में उपलब्ध नहीं होता है। यह एक आदर्श मात्र है।

एकाधिकार

बाजार में अनेक प्रकार से प्रतिबन्ध लग जाते हैं। ये प्रतिबन्ध कभी माँग पर, कभी पूर्ति पर और कभी दोनों पर लग जाते हैं। यदि किसी वस्तु अथवा सेवा का एक ही उत्पादक हो और अन्य उत्पादकों को उस क्षेत्र में आने का निषेध हो अथवा वे किन्हीं कारणों से न आ सकते हों तो उस वस्तु अथवा सेवा के बाजार में उस उत्पादक का एकाधिकार हो जायगा। उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होगा और इसी आधार पर वह उत्पादक अपनी योजना बनायेगा। इसका प्रभाव उपभोक्ताओं की योजना पर भी पड़ेगा। उदाहरण के लिए हमारे देश में रेलों का एकाधिकार सरकार को प्राप्त है। कोई भी फर्म अपनी निजी रेल नहीं चला सकती। सरकार को भाड़ा निर्धारित करने की स्वतन्त्रता है। यात्री तथा सामान भेजनेवाले इसी के अनुसार अपनी योजना भी बनाते हैं। कभी-कभी माँग में भी एकाधिकार होता है। किसी कच्चे माल की माँग एक ही उत्पादक की हो सकती है यदि यह माल अन्य प्रयोजनों में काम न आ

सकता हो। ऐसी स्थिति कम देखने में आती है। ऐसा भी हो सकता है कि माँग और पूर्ति दोनों पक्षों में एकाधिकारी तत्व हों। क्रेता तथा विक्रेता अपना-अपना संघ बना लें और यह संघ एकाधिकारी का रूप ले ले। इस द्विपक्षीय एकाधिकार से योजनाओं की रूप-रेखा भी प्रभावित होगी।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा

पूर्ण एकाधिकार की अवस्था विशुद्ध रूप में बहुत कम देखने में आती है। वास्तविक जगत् में प्रत्येक क्रेता और विक्रेता को किसी न किसी रूप में प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता ही है। उदाहरण के लिए यद्यपि हमारे देश में सरकार को रेलों का एकाधिकार प्राप्त है तथापि उसको मोटर कारों और लारियों से होड़ लेनी पड़ती है। यह ठीक है कि इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा अपूर्ण होती है क्योंकि यद्यपि रेल और मोटर लारियाँ दोनों यात्रियों और सामान को ढोती हैं तथापि रेलों की अपनी ही विशेषता होती है। वास्तविक जगत् में हमको न तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा का बाजार मिलता है और न पूर्ण एकाधिकार का। एकाधिकार तथा प्रतिस्पर्धा का आंशिक रूप में सम्मिश्रण रहता है। ऐसे बाजार को अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का बाजार कहते हैं।

इस अपूर्ण प्रतिस्पर्धा अथवा अपूर्ण एकाधिकार के अनेक भेद होते हैं। एक प्रकार के बाजार में किसी वस्तु विशेष के उत्पादक तो अनेक होते हैं परन्तु प्रत्येक उत्पादक अपनी वस्तु के वास्तविक अथवा काल्पनिक भेद द्वारा क्रेताओं को विज्ञापन इत्यादि द्वारा अपनी वस्तु की ओर आकर्षित करने की चेष्टा करता है। वस्तु-भेद के कारण इन उत्पादकों का कुछ अंश तक तो अपनी वस्तुओं पर एकाधिकार रहता है, परन्तु क्योंकि इन वस्तुओं से एक ही प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति होती है इसलिए प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी विशेषता होने पर भी उनके उत्पादकों में आपस में प्रतिस्पर्धा होती है। उदाहरण के लिए हम को बाजार में अनेक प्रकार के नामांकित नहाने के साबुन दिखाई देते हैं। प्रत्येक का अपना सुरक्षित नाम है, बनाने का अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित है अर्थात् उस नाम से

और कोई फर्म साबुन नहीं बना सकती है। विज्ञापनों द्वारा प्रत्येक उत्पादक अपने-अपने साबुनों की विशेषताएँ जनता के सामने रखता है। इस अर्थ में प्रत्येक साबुन की फर्म को एकाधिकार प्राप्त है। परन्तु सभी साबुन नहाने के काम आते हैं और एक-दूसरे का स्थान ले सकते हैं। अतएव उनमें आपस में प्रतिस्पर्धा भी रहती है। प्रत्येक साबुन का उत्पादक यह जानने की चेष्टा करता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वी क्या करने जा रहे हैं। इसी आधार पर वह अपनी योजना भी बनाता है। इस प्रकार की वस्तु-स्थिति को प्रतिस्पर्धात्मक एकाधिकार कहते हैं।

कछ उद्योग-धन्धों में उत्पादकों की संख्या विशेष कारणों से बहुत ही सीमित होती है। उदाहरण के लिए मोटर गाड़ी बनाने वाली फर्मों की संख्या बहुत थोड़ी है। इस प्रकार के उद्योग-धन्धों में प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन की मात्रा उस वस्तु की कुल उत्पादन की मात्रा का इतना बड़ा भाग होती है कि वह कुछ उत्पादन को और उस वस्तु के मूल्य को विशेष रूप से प्रभावित कर सकता है। ये अल्पसंख्यक उत्पादक एक ही प्रकार की वस्तु का उत्पादन कर सकते हैं, अथवा जैसा कि अधिकतर होता है, प्रत्येक उत्पादक अपनी-अपनी वस्तु में थोड़ा बहुत भेद कर देता है। इस प्रकार के उत्पादकों के बीच प्रतिस्पर्धा कभी-कभी भयंकर रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार के बाजार में प्रत्येक उत्पादक को हमेशा बहुत सतर्क रहना पड़ता है। क्योंकि किसी एक प्रतिद्वन्द्वी की मूल्य-नीति अथवा विज्ञापन-नीति का अन्य उत्पादकों पर हानिकर प्रभाव पड़ सकता है। फलस्वरूप अन्य उत्पादकों में इसकी प्रतिक्रिया होती है। वे भी अपने हितों की सुरक्षा के लिए अपनी मूल्य-नीति, विज्ञापन-नीति इत्यादि बदल देते हैं। इसका प्रभाव पहले उत्पादक पर भी पड़ता है और उसको पुनः अपनी वस्तु के मूल्य में बदलाव करने को बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार की क्रिया और प्रतिक्रिया जहाँ एक बार चालू हुई तो कहा नहीं जा सकता कि इसका अन्त कहाँ पर और किस प्रकार होगा। कभी-कभी तो इस प्रकार के बाजार में गलाकाट प्रतिस्पर्धा इतना भयंकर रूप धारण

कर लेती है कि प्रत्येक उत्पादक को हानि होने लगती है। अतएव प्रत्येक उत्पादक संशंकित रहता है और स्वयंमेव ऐसी परिस्थिति पैदा करने से शिझकता है कि अन्त में उसको लेने के देने पड़ जायँ।

माँग और पूर्ति •

जिस प्रकार पूर्ति, उत्पादकों और विक्रेताओं के पक्ष से पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, प्रतिस्पर्धात्मक एकाधिकार तथा अल्प-संख्यात्मक उत्पादक प्रतियोगिता होती है उसी प्रकार माँग, उपभोक्ताओं और क्रेताओं के पक्ष से भी पूर्ण प्रतियोगिता (जिसमें क्रेताओं की संख्या अपरिमित होती है), एकाधिकार (जिसमें केवल एक क्रेता होता है)

अथवा अल्प-संख्यक क्रेता हो सकते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रकार की पूर्ति करने वाली और माँग करने वाली फर्मों तथा कुटुंबों के संघात से विविध प्रकार के बाजारों का प्रादुर्भाव होता है। फर्म और कुटुंब जब अपनी उत्पादन (पूर्ति) और उपभोग (माँग) की योजना बनाते हैं तब जिस प्रकार के बाजार में वे अपने को पाते हैं उसी के अनुसार अपनी योजनाओं का सामंजस्य करते हैं। इन सभी योजनाओं के सम्मिश्रण से विनिमय-अर्थ-व्यवस्था को उसका स्वरूप प्राप्त होता है।

इस अध्याय का सारांश यह है कि विनिमय-अर्थ-पद्धति किसी केन्द्रीय अधिकारी द्वारा निर्मित तथा संचालित नहीं होती है। इसके अन्तर्गत बाजार, हिसाब-किताब की इकाई और द्रव्य आवश्यक तत्त्व है जिनके सहयोग से विविध व्यक्तिगत योजनाएँ क्रमबद्ध होकर देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को निर्धारित करती हैं। पिछले अध्याय में हमने बतलाया था कि यद्यपि केन्द्र-निर्देशित अर्थ-व्यवस्था के कुछ रूपों में द्रव्य और बाजार का उपयोग होता है, परन्तु ये तत्त्व इनमें गौण रहते हैं जब कि विनिमय अर्थ-व्यवस्था में इनकी प्रधानता रहती है।

अध्याय ४

आर्थिक संस्थाएँ तथा मान्यताएँ

संस्थाओं का महत्व

भिन्न-भिन्न आर्थिक पद्धतियों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके अन्तर्गत आर्थिक संस्थाओं और मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। यों तो अनेक प्रकार की आर्थिक संस्थाएँ और मान्यताएँ पायी जाती हैं परन्तु हम केवल कुछ आधारभूत संस्थाओं और मान्यताओं का ही वर्णन करेंगे। ये संस्थाएँ और मान्यताएँ अधिकतर रीति-रिवाज और परम्पराओं पर आधारित रहती हैं और एक विशेष प्रकार की आर्थिक क्रियाओं और सम्बन्धों को उनका रूप प्रदान करती हैं। कुछ संस्थाओं की स्थापना वैधानिक नियमों द्वारा भी होती है।

भिन्न-भिन्न आर्थिक पद्धतियों की आर्थिक संस्थाओं और मान्यताओं में कभी-कभी इतना महत्वपूर्ण अन्तर होता है कि इन पद्धतियों की परिभाषा ही संस्थाओं के रूप में दी जाती है। इस अध्याय में पूँजीवादी अर्थ-पद्धति, समाजवादी अर्थ-पद्धति, मिश्रित अर्थ-पद्धति और फासिस्ट अर्थ-पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न आर्थिक संस्थाओं और मान्यताओं का विवेचन किया जायगा।

निजी सम्पत्ति

सबसे पहले हम सम्पत्ति को लेते हैं। पूँजीवादी अर्थ-पद्धति के अन्तर्गत निजी सम्पत्ति एक महत्वपूर्ण संस्था है। इसको परम्परागत रीति-रिवाज और वैधानिक रूप में भी मान्यता प्राप्त है। जिस व्यक्ति अथवा संस्था के पास निजी सम्पत्ति है उसको यह अधिकार रहता है कि विधान के अन्तर्गत वह चाहे जिस प्रकार से उसका उपयोग करे। उस

सम्पत्ति से प्राप्त आय पर भी उसी का अधिकार होता है। सम्पत्ति के स्वामित्व का हस्तान्तरण करने का अधिकार भी उसको प्राप्त रहता है। अपना स्वामित्व बनाये रखकर वह किसी दूसरे को अपनी सम्पत्ति किराये पर दे सकता है। मृत्यु के उपरान्त उसकी संपत्ति उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है।

निजी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ इसके बारे में अनेक मत हैं। ऐसा समझा जाता है कि अति प्राचीन काल में निजी सम्पत्ति नाम की कोई मान्यता थी ही नहीं। यह उस समय की बात है जब कि लोगों को जीवन निर्वाह की वस्तुएँ ही कठिनता से प्राप्त होती थीं और किसी प्रकार की बचत अथवा पूँजी का संचय नहीं हो पाता था। उपभोग के पदार्थों में भी कुटुम्ब का समान अधिकार रहता था। परिवार के रूप में इकाइयाँ अवश्य थीं पर इनका विशेष आर्थिक महत्त्व न था। धीरे-धीरे श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण द्वारा उत्पादन में वृद्धि हुई। कुछ बचत होने लगी। पूँजी का संचय होने लगा। हथियार, औजार इत्यादि का निर्माण हुआ और इनके स्वामित्व का भी प्रश्न उत्पन्न हुआ। प्रारम्भ में इस प्रकार की सम्पत्ति समाज की ही समझी जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे किसी परिवार की अपनी निजी सम्पत्ति की भावना उत्पन्न हुई और उसको मान्यता भी प्राप्त हो गयी। हथियार इत्यादि जैसी वस्तुओं को निजी सम्पत्ति माना जाने लगा।

निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त

एक प्राचीन विचारधारा के अनुसार निजी सम्पत्ति प्राकृतिक देन मानी जाती है, अर्थात् सम्पत्ति वाले व्यक्ति का सम्पत्ति पर प्राकृतिक अधिकार समझा जाता है। विशेष रूप से वे व्यक्ति जिनके पास प्रचुर मात्रा में धन सम्पत्ति है, इसी न्याय से अपना अधिकार सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यह तर्क सार-रहित है। निजी सम्पत्ति की संस्था तथा उसकी मान्यता प्राकृतिक नहीं है परन्तु मनुष्य द्वारा निर्मित है।

प्राकृतिक अवस्था में निजी सम्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता और जैसा हम बतला चुके हैं कि अति-प्राचीन काल में तो निजी सम्पत्ति की धारणा ही नहीं थी। निजी सम्पत्ति को प्राकृतिक रूप देना उस विचारधारा का द्योतक है जो बहुत काल से परम्परागत आयी हुई बातों को प्राकृतिक समझने लगती है।

निजी सम्पत्ति के संबन्ध में एक और प्राचीन सिद्धान्त श्रम-सिद्धान्त के रूप में पाया जाता है। जो वस्तुएँ किसी व्यक्ति के परिश्रम से प्राप्त होती थीं अथवा उनका उत्पादन किया जाता था, उन पर उसका स्वामित्व और अधिकार माना जाता था। प्राचीन आर्थिक परिस्थिति के अन्तर्गत जब कि कोई व्यक्ति अथवा कुटुम्ब अपने ही श्रम से अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन करता था उस काल में इस सिद्धान्त में तथ्य हो सकता है, परन्तु आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में तो यह बात नहीं पायी जाती। आज तो किसी भी व्यक्ति अथवा परिवार के पास अनेक ऐसी वस्तुएँ उसकी निजी सम्पत्ति के रूप में पायी जाती हैं जिनके उत्पादन में उसका कुछ भी हाथ न रहा हो। इसके अतिरिक्त मनुष्यों ने प्रकृति-दत्त भूमि, खान इत्यादि साधनों पर भी अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया है। अतएव व्यक्तिगत सम्पत्ति का श्रम-सिद्धान्त पूर्ण रूप से लागू नहीं होता है।

आधुनिक काल में व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाज-कल्याण सिद्धान्त के रूप में समझाया जाने लगा है और उसी रूप में उसको मान्यता प्रदान की जाने लगी है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज ने अपने सदस्यों को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार इस धारणा से दिये हैं कि इसके अन्तर्गत समाज के सभी व्यक्ति अच्छी दशा में रह सकें। इस धारणा का आधार यह है कि व्यक्ति-गत सम्पत्ति की मान्यता से लोगों में काम करने और सम्पत्ति के उत्पादन तथा उसके संचय के लिए अधिक उत्साह रहता है। इससे पूँजी का निर्माण होता है और आर्थिक प्रगति भी होती है। यदि व्यक्तियों को अपनी निर्मित वस्तुओं पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त न हो तो वे केवल उन्हीं वस्तुओं का निर्माण करेंगे जो तात्कालिक उपभोग

की हों और ऐसी वस्तुओं का संचय करेंगे जिनके छोटे से परिमाण में अधिक मूल्य निहित हो, ताकि आक्रमण अथवा छीने जाने की आशंका के समय सुगमता से उसका स्थानान्तरण किया जा सके। ऐसी परिस्थिति में उत्पादन और उपयोग की टिकाऊ सामग्रियों का संचय न हो सकेगा जिसके फलस्वरूप आर्थिक प्रगति भी न हो पायेगी।

पूँजीवाद की प्रारम्भिक अवस्था में जब वस्तुओं का उत्पादन बहुत कम मात्रा में होता था, व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाज-कल्याण सिद्धान्त का कुछ महत्व अवश्य था। परन्तु अब जब कि अनेक देशों में पूँजीवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है, समाज कल्याण के लिए उत्पादन से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न वितरण का हो गया है। अधिकांश सम्पत्ति का अल्प-संख्यक व्यक्तियों के पास केन्द्रीकरण होने से और अधिकांश व्यक्तियों के पास नाम मात्र की अथवा कुछ भी सम्पत्ति न होने के कारण आर्थिक असमानता में बहुत वृद्धि हो गयी है। अतएव केवल इसी कारण से कि व्यक्तिगत सम्पत्ति से पूँजी का संचय होता है और उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि करने का प्रोत्साहन मिलता है, वर्तमान परिस्थिति में व्यक्तिगत सम्पत्ति वाली संस्था को मान्यता नहीं दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त समाज का क्षेत्र केवल आर्थिक क्षेत्र में ही निहित नहीं रहता है। समाज की अन्य आवश्यकताएँ भी होती हैं, जैसे सुरक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि, जिनका सामाजिक कल्याण से तो घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है परन्तु जिनका आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती है। इस पृष्ठभूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का समाज-कल्याण सिद्धान्त एक काम-चलाऊ सिद्धान्त प्रतीत होता है जो यह सुझाता है कि अच्छे और बुरे सभी प्रतिफलों को दृष्टि में रखकर व्यक्ति और सम्पत्ति का सम्बन्ध निजी सम्पत्ति की संस्था और मान्यता पर स्थापित करना अधिक उपादेय है।

इस प्रकरण में एक बात बतलानी आवश्यक प्रतीत होती है कि निजी सम्पत्ति की मान्यता होने पर भी समाज द्वारा अथवा शासन द्वारा उस पर समाज हित के निमित्त अनेक प्रकार के बन्धन लगाये जाते हैं।

उदाहरण के लिए मनुष्य का शरीर अपनी सम्पत्ति है परन्तु उसको आत्म-हत्या करने का अधिकार नहीं है। मकान मनुष्य की अपनी सम्पत्ति है परन्तु उसको उसमें आग लगाने का अधिकार नहीं है। आयकर, सम्पत्ति-कर, मृत्यु-कर तथा उत्तराधिकार करों द्वारा भी व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसकी आय पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। इन सब बन्धनों के होते हुए भी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में निजी सम्पत्ति को एक महत्वपूर्ण स्थान और मान्यता प्राप्त है।

ऐसी बात नहीं है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति ही होती है। उसमें सार्वजनिक सम्पत्ति भी होती है जिस पर सारे समाज का अधिकार होता है और जिसका संचालन राज्य द्वारा अथवा अन्य किसी सार्वजनिक संस्था (उदाहरण के लिए, सहकारी समिति) द्वारा होता है। सड़कें, पुल, पार्क, सार्वजनिक उद्योग-धन्धों की सम्पत्ति भी सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में राज्य के अधिकार में रहती है जो समाज के प्रतिनिधि के रूप में उसका निर्माण तथा उसकी रक्षा करता है।

संयुक्त-स्वामित्व सम्पत्ति

स्वामित्व के दृष्टिकोण से आधुनिक काल में व्यक्तिगत सम्पत्ति और सार्वजनिक सम्पत्ति से कुछ अंशों में भिन्न संयुक्त-स्वामित्व सम्पत्ति की प्रधानता होती जा रही है। इस संयुक्त-सम्पत्ति के अन्तर्गत अनेक व्यक्ति किसी कम्पनी के हिस्सेदार होते हैं और इस रूप में उसके स्वामी भी होते हैं। परन्तु हिस्सेदार व्यक्तिगत रूप में नहीं अपितु सामूहिक रूप में स्वामी होते हैं। इस प्रकार की कम्पनी की सम्पत्ति का स्वामित्व कुछ अंश में व्यक्तिगत स्वामित्व और कुछ अंशों में सार्वजनिक स्वामित्व से मिलता जुलता है। कार्यक्षेत्र में हिस्सेदार कम्पनी के प्रबन्ध और संचालन में प्रत्यक्ष रूप में भाग नहीं लेते हैं। यह काम डाइरेक्टर और मैनेजर लोग करते हैं। अधिकतर मैनेजर लोग वेतनभोगी कर्मचारी होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पत्ति के स्वामित्व और उसके प्रबन्ध में

व्यतिरेक हो जाता है। साधारण हिस्सेदार को केवल अपने लाभांश से प्रयोजन रहता है। कम्पनी में कौन काम किस प्रकार हो रहा है इस सम्बन्ध में बहुधा उसको कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। इसके फलस्वरूप संयुक्त-स्वामित्व सम्पत्ति में अनेक दोषों का प्रादुर्भाव हो गया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अमेरिका, इंग्लैंड सदृश देशों में कुल सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा भाग थोड़ी सी बड़ी-बड़ी कम्पनियों के अधीन होता जा रहा है और इस प्रकार सम्पत्ति का एकत्रीकरण हो रहा है।

आर्थिक स्वतन्त्रता

पूँजीवादी आर्थिक पद्धति में दूसरी प्रधान मान्यता आर्थिक कार्य करने की स्वतन्त्रता समझी जाती है। इसका यह तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को (विधान के अन्तर्गत) किसी प्रकार के भी आर्थिक कार्य करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसको किसी प्रकार का बन्धन नहीं है कि वह अपने बाप दादों का ही कार्य करे अथवा किसी के अनुशासन में काम करे। कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार दुकान खोल सकता है, रेल का कुली बन सकता है, किसी फैक्टरी में काम कर सकता है अथवा डाक्टर, इंजीनियर इत्यादि बनने के लिए योग्यता प्राप्त कर सकता है। यदि किसी व्यक्ति के पास कुछ भूमि है तो वह अपनी इच्छा के अनुसार उस पर खेती कर सकता है, उसको बंजर छोड़ सकता है, अथवा उसका क्रीड़ांगन के रूप में उपयोग कर सकता है। यदि उसके पास एक हजार रुपया है तो वह उससे उपभोग की वस्तुएँ खरीद सकता है, अथवा उसको बैंक में रख सकता है अथवा किसी कम्पनी के हिस्से खरीद सकता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता से आर्थिक स्वतन्त्रता का गहरा सम्बन्ध है।

आर्थिक कार्यों की स्वतन्त्रता से यह तात्पर्य नहीं है कि इन कार्यों में विश्रृंखलता रहती है, लोग मनमानी करते हैं और इससे समाज का अहित होता है। इस कार्य-पद्धति का निर्धारण बाजार और मूल्य के

सिद्धान्तों द्वारा होता है। कोई भी आर्थिक कार्यकता बाजार और मूल्य का अध्ययन करता है और उनके आधार पर अपनी योजना बनाता है। इस योजना के भीतर उसका स्वार्थ तो रहता ही है (जैसे अधिकतम लाभ प्राप्त करना अथवा लाभ में स्थिरता लाना), परन्तु ऐसी कल्पना की जाती है कि आर्थिक स्वतंत्रता द्वारा स्वार्थ के साथ-साथ परमार्थ अर्थात् समाज का हित भी होता है। इस प्रकार की धारणा के फलस्वरूप आर्थिक स्वतन्त्रता को मान्यता दी जाती है।

पूँजीवाद में नियंत्रण

परन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता के अंतर्गत वास्तव में सर्वदा ही ऐसा होता नहीं दिखाई देता। स्वहित और समाज-हित में कभी-कभी वैषम्य हो जाता है। उदाहरण के लिए, वस्तुओं में मिलावट कर बेचने से विक्रेता का स्वहित तो होता है लेकिन समाज का अहित ही होता है। इसी प्रकार शराब और अन्य नशीली वस्तुओं के उत्पादन और विक्रय से उत्पादकों और विक्रेताओं को तो बहुत लाभ होता है परन्तु इनके उपभोग से समाज को हानि होती है। अतएव बहुधा व्यवसायों की स्वतन्त्रता में सरकार द्वारा कुछ बन्धन लगाये जाते हैं। चोरी करना, हत्या करना, चकले रखना इस प्रकार के असामाजिक कार्यों को अवैधानिक समझा जाता है। अनेक प्रकार के धन्धों पर राज्य द्वारा प्रतिबन्ध तथा नियंत्रण रहता है। उदाहरण के लिए मोटर ड्राइवरों और डाक्टरों को लाइसेंस प्राप्त करना पड़ता है। बैंक, बिजली, पानी, रेल इत्यादि व्यवसायों में अनेक प्रकार के वैधानिक नियंत्रण भी रहते हैं।

राजकीय नियंत्रण के अतिरिक्त पूँजीवाद के आधुनिक रूप में अनेक व्यवसायों में स्वतन्त्रता नाम मात्र की ही होती है। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के फलस्वरूप कुछ उद्योग धन्धों में (जैसे मोटर और इस्पात के उद्योग धंधे) फर्मों की संख्या बहुत सीमित होती है। इस प्रकार के व्यवसायों में प्रचुर लाभ होने पर भी और नये फर्म खोलने की वैधानिक स्वतन्त्रता होने पर भी लोगों को अतिरिक्त फर्म खोलने का साहस नहीं होता। यह

आशंका रहती है कि एक नयी फर्म पुरानी विशाल फर्मों के सामने टिक नहीं सकेगी। इसी प्रकार एकाधिकारी तत्त्वों के कारण भी उद्योग की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है।

इन व्यवधानों के अतिरिक्त उद्योगों की स्वतन्त्रता रहने पर भी प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक उद्योग के लिए योग्य नहीं होता है। उसका मानसिक और शारीरिक बल, शिक्षा, बुद्धि और विवेक प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। कभी-कभी प्राकृतिक रुकावटें भी हो जाती हैं। उदाहरण के लिए किसी किसान को गन्ने की खेती में लाभ प्रतीत होता है, परन्तु उसके खेतों की मिट्टी, उर्वरा शक्ति तथा उस स्थान का जलवायु गन्ने के लिए यदि अनुकूल न हो तो वह इस उद्योग के लिए अपने को असमर्थ पाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उद्योग-स्वतन्त्रता एक बात है और उसको कार्य रूप में परिणत करना दूसरी बात है। उद्योग-स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि सभी लोगों को सभी उद्योगों के समान अवसर प्राप्त हैं।

अन्य प्रकार की स्वतन्त्रताएँ

आर्थिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत सैद्धान्तिक रूप में केवल उद्योग-स्वतन्त्रता ही नहीं परन्तु उपभोग की स्वतन्त्रता, व्यापार की स्वतन्त्रता, लेन-देन तथा आदान-प्रदान की स्वतन्त्रता भी रहती है। विशुद्ध पूंजीवाद में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं रहता है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं पायी जाती। यद्यपि उपभोक्ताओं को अपना द्रव्य खर्च करने में स्वतन्त्रता रहती है तथापि कुछ वस्तुओं, जैसे नशीली वस्तुओं के उपभोग में राज्य द्वारा प्रतिबन्ध रहता है। इसी प्रकार यद्यपि मिल-मालिक और मजदूर आपस में किसी प्रकार के लेन-देन में स्वतन्त्र होने पर भी आधुनिक काल में न्यूनतम मजदूरी, काम करने के घण्टे और अन्य श्रम कल्याणकारी नियमों द्वारा प्रतिबन्धित रहते हैं। व्यापार-स्वतन्त्रता में भी तट-करों द्वारा अथवा आर्थिक नियमों द्वारा बन्धन लगाया जाता है।

मूल्य पद्धति

पूँजीवाद में मूल्य, उसके आपस में सम्बन्ध तथा उसके बदलाव को महत्वपूर्ण मान्यता प्राप्त है। कौन व्यक्ति कौन-सा आर्थिक कार्य करेगा, कौन-सा आर्थिक साधन किस उद्योग में और किस परिमाण में लगाया जायगा, कौन सी वस्तुएँ और सेवाएँ किन किन मात्राओं में उत्पन्न की जायँगी और कब और कहाँ बेची जायँगी ? इस प्रकार के सभी प्रश्नों का उत्तर मूल्य-पद्धति के अन्तर्गत मिलता है। प्रत्येक मूल्य एक दूसरे से सम्बन्धित रहता है और एक दूसरे को प्रभावित करता रहता है। इन्हीं मूल्यों और उनके बदलावों का अध्ययन करके उत्पादक और उपभोक्ता, क्रेता और विक्रेता अपनी अपनी आर्थिक योजना बनाते हैं और उनमें संशोधन करते रहते हैं। अगले अध्यायों में जब विविध आर्थिक पद्धतियों का सांगोपांग विश्लेषण किया जायगा तब इस विषय पर अधिक प्रकाश डाला जायगा। यहाँ पर इतना और कह देना उपयुक्त होगा कि बहुधा राज्य द्वारा मूल्यों पर नियंत्रण रखा जाता है। युद्ध काल में नियंत्रण रहता ही है परन्तु कुछ मूल्यों का नियंत्रण शान्ति के समय में भी रहता है। अप्रत्यक्ष रूप में भी मौद्रिक तथा राजस्व नीति द्वारा मूल्यों पर नियंत्रण रखने की चेष्टा की जाती है।

प्रतिस्पर्धा

पूँजीवाद में प्रतियोगिता अथवा प्रतिस्पर्धा को भी महती मान्यता प्राप्त है। ऐसा समझा जाता है कि प्रतियोगिता के ही फलस्वरूप अर्थ-व्यवस्था संतुलित होकर समाज और व्यक्तियों के बीच सामंजस्य प्राप्त कराती है। उदाहरण के लिए यदि किन्हीं कारणों से कुछ उद्योग धन्धे अन्य उद्योग-धन्धों से अधिक लाभदायक हो जायँ तो उन उद्योग धन्धों में अधिक फर्में खुल जायँगी, उत्पादन अधिक परिमाण में होने लगेगा और फर्मों में आपसी प्रतियोगिता के फलस्वरूप कीमतें गिरने लगेंगी और लाभ कम होने लगेगा। इसके विपरीत कम लाभ वाले उद्योग धन्धों में

फर्मों की संख्या कम हो जायगी। उत्पादन कम मात्रा में होने लगेगा और उनकी कीमतों में वृद्धि होने के फलस्वरूप लाभ में भी वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार का बदलाव तब तक होता रहेगा जब तक सभी उद्योग धन्धे समान रूप में लाभप्रद न हो जायें। इसी प्रकार यदि किसी उद्योग धन्धे में अधिक मजदूरी मिलती है तो उसमें अधिक मजदूर आकर्षित होंगे, उनकी संख्या में वृद्धि होगी और प्रतियोगिता के फलस्वरूप मजदूरी की दर घटने लगेगी और जिन उद्योग धन्धों से ये मजदूर आयेंगे वहाँ इस कमी से मजदूरी बढ़ने लगेगी। यह क्रम तब तक चलेगा जब तक एक ही प्रकार के मजदूरों को सभी उद्योग धन्धों में समान मजदूरी न मिलने लगे। इस प्रकार साम्यावस्था स्थापित होती है। प्रतियोगिता के फलस्वरूप उद्योग धन्धे अपनी कार्य-क्षमता अधिकतम करने का प्रयत्न करते हैं जिससे प्रति इकाई लागतव्यय घट जाता है और इसका लाभ कीमत में कमी के द्वारा उपभोक्ताओं को भी प्राप्त होता है। जो फर्म अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाने में असमर्थ रहती हैं वे प्रतियोगिता में टिक नहीं सकती और बन्द हो जाती हैं। इस प्रकार प्रतियोगिता के फलस्वरूप केवल कार्यकुशल फर्मों का ही अस्तित्व रहता है। शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों ने प्रतियोगिता के सिद्धान्त पर ही अर्थतन्त्र का ढाँचा बनाया था और उनकी धारणा थी कि यदि अर्थतन्त्र के प्रत्येक भाग में प्रतियोगिता पूर्ण रूप से पायी जाय और इसमें किसी प्रकार से व्यवधान अथवा हस्तक्षेप न होने पाये तो सभी आर्थिक साधन उपयुक्त कार्यों में नियुक्त हो जायेंगे और सभी को अपनी उत्पादकता के अनुसार आय हो जायगी। इस प्रकार से निर्धारित आर्थिक संतुलन समाज का अधिकतम हित करने में समर्थ होगा यह भी उनकी मान्यता थी।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के लिए अनेक बातों की आवश्यकता होती है। किसी वस्तु अथवा सेवा के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के लिए उस वस्तु और

सेवा के अनेक क्रेता तथा विक्रेता होने चाहिए। अनेक से यह तात्पर्य है कि कोई भी क्रेता अथवा विक्रेता केवल अपने क्रय अथवा विक्रय से उस वस्तु अथवा सेवा के मूल्य को प्रभावित करने में असमर्थ रहता है। बाजार में मूल्य कुल माँग और कुल पूर्ति के आधार पर निर्धारित होता है और इस मूल्य पर कोई भी विक्रेता जितना चाहे उतना बेच सकता है और कोई भी क्रेता जितना चाहे उतना खरीद सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत यह भी आवश्यक है कि सभी विक्रेता सभी रूपों में समान वस्तु बेचें और क्रेताओं की दृष्टि में भी यह समान जान पड़े। क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार और मूल्य का पूर्ण ज्ञान होना भी आवश्यक है। उत्पत्ति के साधनों में भी गतिशीलता होनी आवश्यक है ताकि वे सुगमता से एक उद्योग से दूसरे उद्योग में और एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजे जा सकें। इसमें राज्य का किसी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उत्पादकों और विक्रेताओं में भी उत्पादन, विक्रय तथा मूल्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता नहीं होना चाहिए।

स्पष्ट है कि वास्तविक जगत् में ये सभी बातें नहीं पायी जा सकती हैं। राज्य द्वारा नाना प्रकार के हस्तक्षेप होते रहते हैं। सभी व्यक्तियों को सभी उद्योगों में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता भी नहीं रहती है। इसी प्रकार कुछ प्रकार के मूल्यों पर भी सरकारी नियंत्रण रहता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, कई कारणों से कुछ उद्योग-धन्धों में फर्मों की संख्या बहुत थोड़ी रहती है। फर्मों की संख्या बड़ी होने पर भी सभी फर्मों किसी वस्तु को पूर्ण रूप में समान नहीं बनाती हैं, उनमें कुछ न कुछ विभेदीकरण कर देती है। इस प्रकार प्रतिस्पर्धा अपूर्ण हो जाती है। क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार और मूल्य का पूर्ण ज्ञान भी नहीं रहता है। अनेक कारणों से उत्पत्ति के साधनों में भी इतनी गतिशीलता नहीं रहती कि आसानी से उनका उद्योगान्तरण अथवा स्थानान्तरण किया जा सके। इन कारणों से भी प्रतिस्पर्धा सीमित हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में चाहे प्रारम्भ में पर्याप्त मात्रा में प्रतियोगिता पायी गयी हो परन्तु उसके वर्तमान स्वरूप में उसका अभाव ही देखा जाता है।

ऐसी बात भी नहीं है कि पूर्ण प्रतियोगिता वाली अर्थ-व्यवस्था निश्चय ही समाज के हित में होती है। बहुधा इस प्रकार की व्यवस्था में बहुत बरबादी भी हो जाती है। क्योंकि इस व्यवस्था में प्रत्येक उत्पादक स्वतन्त्र रूप से काम करता है, अतएव कभी कभी किसी उद्योग-धन्धे में अत्यधिक उत्पादन हो जाता है। अर्थात् माँग से अधिक पूर्ति हो जाती है। इसके फलस्वरूप उत्पादन कार्य में अव्यवस्था हो जाती है। यद्यपि लाभ-हानि के प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पादन में संतुलन लाने की प्रवृत्ति रहती है तथापि इसको कार्यान्वित करने में आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता है। पूँजीवाद में समय समय पर आर्थिक मन्दी और बेकारी का एक कारण प्रतियोगिता भी है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था

उपर्युक्त वर्णन में हमने मुख्य मुख्य आर्थिक संस्थाओं और मान्यताओं का विवेचन पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के सम्बन्ध में किया है। इन संस्थाओं और मान्यताओं के आधार पर अन्य आर्थिक पद्धतियों का भी निरूपण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए समाजवादी आर्थिक पद्धति को ले लीजिए। जहाँ तक व्यक्तिगत (निजी) सम्पत्ति का प्रश्न है, एक आदर्श समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति केवल उपभोग के पदार्थों में ही रह सकती है। उत्पादक सम्पत्ति, जैसे भूमि और पूँजी सारे समाज की संयुक्त सम्पत्ति मानी जाती है। व्यवहार में छोटे-मोटे उद्योग धन्धों में लगी उत्पादक सम्पत्ति व्यक्तिगत रहती है, यदि ऐसे धन्धों का संचालन कोई व्यक्ति स्वयं अपने अथवा अपने परिवार के सदस्यों के श्रम द्वारा करता हो, अर्थात् जिन धन्धों में मालिक-मजदूर के सम्बन्ध उत्पन्न न होते हों।

इसी प्रकार एक आदर्श समाजवादी आर्थिक पद्धति में उद्योग-स्वतन्त्रता नहीं होती है। सम्पूर्ण उत्पादन योजना राज्य के अन्तर्गत बनायी जाती है और कौन व्यक्ति कहाँ काम करे और उत्पत्ति के साधन किन उद्योग धन्धों में किन परिमाणों में लगाये जायँ इसका निर्णय भी केन्द्रीय स्तर पर होता है। वास्तव में इस सिद्धान्त के कुछ अपवाद भी पाये जाते हैं। कुछ छोटे उद्योग-धन्धों को स्वतन्त्रता भी रहती है और श्रमजीवियों को स्वतन्त्रता रहती है कि वे चाहे जिस उद्योग-धन्धे में काम करें।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में यद्यपि मुद्रा और मूल्य का उपयोग होता है परन्तु आर्थिक योजना के निर्माण और संचालन में इनको कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रतियोगिता का भी महत्त्व नहीं होता है। प्रतियोगिता का स्थान निर्देशन ले लेता है। इसका आशय यह नहीं है कि इस पद्धति में प्रतियोगिता का बिल्कुल अभाव रहता है। आर्थिक क्रियाओं के कुछ विभागों में इस का प्रयोग कार्यक्षमता इत्यादि के लिए किया जाता है। परन्तु सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में इसका स्थान इतना महत्वपूर्ण नहीं होता है जितना कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में होता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में दो आर्थिक क्षेत्र होते हैं—(१) निजी क्षेत्र और (२) सार्वजनिक क्षेत्र। दोनों का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और सार्वजनिक सम्पत्ति साथ साथ पायी जाती है। सार्वजनिक उद्योग और निजी उद्योग भी साथ साथ चलते हैं। राज्य का आर्थिक क्रियाओं में पर्याप्त मात्रा में हस्तक्षेप रहता है, परन्तु कुछ क्षेत्रों में उद्योग-स्वतन्त्रता भी रहती है। मुद्रा और मूल्य पद्धति का प्रयोग होता है और इनको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहता है। यद्यपि सार्वजनिक आर्थिक क्रियाएँ मूल्यों के सम्बन्धों और उनके बदलावों पर पूर्ण रूप में आधारित

नहीं रहती हैं तथापि इनको ध्यान में तो रखना ही पड़ता है। क्योंकि अर्थ-व्यवस्था का एक बड़ा क्षेत्र मूल्यों द्वारा ही प्रभावित होता है, अतएव सरकारी उद्योग-धन्धे अपने को इन बदलावों से अछूता नहीं रख सकते हैं। समाज का अर्थ-तन्त्र तो एक ही है अतएव दोनों क्षेत्र एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं रह सकते हैं। प्रतियोगिता भी कुछ अंश में रहती ही है यद्यपि पूँजीवादी आर्थिक-पद्धति की तुलना में यह सीमित रहती है और आर्थिक योजनाओं तथा उनके संचालन को उतना प्रभावित नहीं करती है। भारत की अर्थ-व्यवस्था मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का उपयुक्त उदाहरण है।

फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था

एक अन्य प्रकार की अर्थ-व्यवस्था, जो दो विश्वयुद्धों की अवधि में जर्मनी और इटली में विकसित हुई, “फासिस्ट पद्धति” कही जाती है। इस पद्धति के अन्तर्गत दिखावे के लिए वे सभी संस्थाएँ और मान्यताएँ थीं जो पूँजीवादी आर्थिक पद्धति में निहित हैं। परन्तु वास्तव में फासिज्म पूँजीवाद से बहुत भिन्न है। फासिज्म में व्यक्तिगत आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। इसका प्रधान उद्देश्य राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति माना जाता था। राष्ट्र की एक स्वतन्त्र सत्ता थी और उसकी आवश्यकताओं और उद्देश्यों का निर्धारण एक महान् शक्तिशाली केन्द्रीय शासन तथा पार्टी के नेताओं द्वारा किया जाता था। अतएव यद्यपि फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता प्राप्त थी परन्तु इसका उपयोग अधिकांश में राज्य द्वारा निर्धारित किया जाता था। लाभ का अधिकार यद्यपि फर्म के मालिकों को ही होता था परन्तु उसका किस प्रकार उपयोग हो यह भी राज्य द्वारा ही निर्धारित होता था। अर्थ-व्यवस्था के संचालन में राज्य का हस्तक्षेप बहुत बड़ी मात्रा में होता था। अनेक उद्योग-धन्धों की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगे हुए थे। अनेक वस्तुओं और सेवाओं के

आर्थिक पद्धतियाँ

मूल्यों पर नियंत्रण रहता था। भिन्न भिन्न उद्योग-धन्धों के लिए कच्चा माल, उनमें काम करने के घण्टे और उनकी उत्पादन की मात्रा पर भी नियंत्रण था। आयात और निर्यात तथा विदेशी विनिमय के उपयोग भी नियंत्रित थे। इस प्रकार पूँजीवादी संस्थाओं और मान्यताओं के होते हुए भी फासिस्ट अर्थ-पद्धति में सर्वशक्तिशाली केन्द्रीय शासन, जो उद्देश्य शासनाधिकारियों को वाञ्छित हों उनकी पूर्ति के लिए नियंत्रण और हस्तक्षेप द्वारा प्रयत्नशील रहता था। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सेना, पुलिस तथा अन्य साधनों का भी प्रयोग किया जाता था।

अध्याय ५

राज्य और शासन

राज्य और शासन का आर्थिक महत्त्व

पिछले अध्यायों में अनेक स्थानों पर राज्य, सरकार और शासन शब्दों का प्रयोग किया गया है। राज्य और शासन का सामाजिक कार्यों में अत्यन्त महत्त्व है। इनका आर्थिक स्वरूप भी है। किसी भी देश की आर्थिक पद्धति और तत्सम्बन्धी आर्थिक क्रियाएँ इन संस्थाओं द्वारा प्रभावित होती हैं। भिन्न भिन्न आर्थिक पद्धतियों में राज्य और शासन का स्थान और प्रभाव भी भिन्न भिन्न होता है। प्रशासन का स्थान और प्रभाव भी भिन्न भिन्न होता है। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं बातों का विवेचन किया जायगा।

यह तो सर्वविदित ही है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहना पसन्द करता है और अन्य व्यक्तियों के साथ उसके अनेक प्रकार के सम्बन्ध हो जाते हैं जो एक दूसरे के ऊपर अवलम्बित रहते हैं। जब मनुष्य साथ रहने लगते हैं तो अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं जिनका समाधान कोई व्यक्ति विशेष नहीं करता है अथवा करने में असमर्थ रहता है। कुछ सामाजिक आवश्यकताएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं जो कि सामूहिक होती हैं और उनकी पूर्ति भी व्यक्तिगत स्तर पर नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए समाज के अन्दर शान्ति की स्थापना करना, बाहरी शत्रुओं से समाज की रक्षा करना, सड़क, पुल इत्यादि का निर्माण करना इस प्रकार के कार्य हैं जो सामाजिक स्तर पर ही किये जा सकते हैं।

कोई समाज चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, प्राचीन हो अथवा

अर्वाचीन, धनी हो अथवा निर्धन, बिना किसी प्रकार के सामाजिक संगठन के रह नहीं सकता है। राज्य भी एक प्रकार का सामाजिक संगठन है जिसका प्रादुर्भाव समाज की रक्षा करने के लिए और उसमें व्यवस्था रखने के लिए हुआ है। राज्य जिस संस्था द्वारा अपना कार्य सम्पादन करते हैं उसको शासन कहा जाता है। कभी कभी इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में भी किया जाता है। इतिहास बतलाता है कि भिन्न भिन्न देशों में और भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न प्रकार का शासन रहा है। गणतन्त्र राज्य से लेकर तानाशाही तक अनेक रूपों में शासन प्रणाली देखी गयी है। वर्तमान काल में भी भिन्न भिन्न देशों में एक ही प्रकार की शासन प्रणाली नहीं पायी जाती है। किसी किसी देश में अभी तक राजा-रानी प्रतिष्ठित है यद्यपि उनके अधिकार बहुत सीमित हो गये हैं। कहीं कहीं लोकतन्त्र पद्धति है जिसके अन्तर्गत समय समय पर निर्वाचन द्वारा राज्य-सभाओं की स्थापना होती है और ये मन्त्रि-मण्डल की सहायता से राज्य का कार्य चलाती हैं। एक निर्वाचित राष्ट्रपति भी रहता है। कहीं कहीं तानाशाही शासन पाया जाता है जिसके अन्तर्गत कोई व्यक्ति विशेष स्वयं अथवा अपने मनोनीत मन्त्रिमण्डल की सहायता से राज्य का कार्य सम्पन्न करता है। शासन की सहायता के लिए और उसको कार्यान्वित करने के लिए अनेक राज्य-कर्मचारियों की नियुक्ति होती है। राज्य-शासन के विकास का इतिहास, उसके रूप और उसकी संचालन विधि बहुत रोचक विषय है। परन्तु हमको इनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रस्तुत अध्याय में हमको यह देखना है कि चाहे किसी प्रकार का शासन हो, उसका भिन्न भिन्न आर्थिक पद्धतियों से किस प्रकार का सम्बन्ध रहता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी आर्थिक पद्धति पर भिन्न भिन्न प्रकार की शासन पद्धति का विशेष प्रभाव रहता है।

राज्य और पूँजीवाद

सबसे पहले हम पूँजीवादी आर्थिक पद्धति को लेते हैं। बहुधा यह

समझा जाता है कि पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति रहती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है। अन्य प्रकार की शासन पद्धतियों से पूंजीवाद का सिद्धान्त रूप में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं है, यद्यपि प्रजातन्त्र शासन इस आर्थिक पद्धति के लिए अधिक उप-युक्त प्रतीत होता है। जिन आर्थिक संस्थाओं और मान्यताओं का वर्णन पिछले अध्याय में किया गया है उनकी प्रतिष्ठा और आदर जनतन्त्र में अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है। यह एक कठिन बात है कि तानाशाही शासन में आर्थिक स्वतन्त्रता को मान्यता मिल सके।

पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के प्रारम्भिक काल में राज्य शासन को आर्थिक कार्यों में अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। शासकों का हस्तक्षेप उचित नहीं समझा जाता था। वह शासन पद्धति अच्छी समझी जाती थी जो आर्थिक जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करे। ऐसी बात नहीं थी कि शासन की बिल्कुल ही आवश्यकता न हो। परन्तु उसका कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित समझा जाता था। ऐडम स्मिथ, जो अपने काल के संभ्रान्त अर्थशास्त्री माने जाते हैं, शासन के तीन प्रमुख कार्य मानते थे। पहला यह कि राज्य बाहरी आक्रमण से समाज की रक्षा करे। इसके निमित्त उसको सेना और युद्ध सामग्री इत्यादि की आवश्यकता रहती थी। यह कार्य किसी व्यक्ति विशेष की सामर्थ्य का नहीं है। सुरक्षा की आवश्यकता एक सामूहिक आवश्यकता है अतएव इसका उत्तरदायित्व राज्य पर ही आता है। राज्य का दूसरा कर्तव्य यह समझा जाता था कि वह देश के भीतर शान्ति और सुरक्षा बनाये रखे अर्थात् मारपीट, चोरी, डकैती, हत्या इत्यादि उपद्रवों से नागरिकों के जीवन और उनकी धन-सम्पत्ति की रक्षा करे। इसके लिए पुलिस, न्यायालय, न्यायाधीश, कारागार इत्यादि की व्यवस्था करनी पड़ती है। यह भी सामाजिक कर्तव्य ही है और राज्य द्वारा ही इसका विधिवत् प्रबन्ध हो सकता है। राज्य का तीसरा प्रमुख कर्तव्य शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क, पुल इत्यादि सार्वजनिक निर्माण कार्यों

से सम्बन्धित है। ये भी इस प्रकार के कार्य हैं जिनका कुशलता से सम्पादन राज्य द्वारा ही हो सकता है।

यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होता है कि ये तीनों कार्य सामाजिक व्यवस्था के लिए आधारभूत हैं। इनका सम्पादन इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करता है जिसमें आर्थिक कार्यों के लिए प्रेरणा मिलती है और जिनके अन्तर्गत आर्थिक प्रगति भी सम्भव हो सकती है। यदि देश के भीतर अराजकता हो, लोगों को अपनी जान और माल का खतरा हो और न्याय की आशा न हो तो ऐसी परिस्थिति में उत्पत्ति की मात्रा बहुत संकुचित हो जायगी। लोग केवल अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही वस्तुओं का उत्पादन करेंगे। संचय और पूँजीकरण की भावना नहीं रहेगी। इसके फलस्वरूप आर्थिक प्रगति में बाधा आ जायगी। अतएव राज्य का यह प्रधान कर्तव्य हो जाता है कि वह शान्ति और सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध करे और व्यक्तियों के जीवन और उनकी सम्पत्ति की भी रक्षा का प्रबन्ध करे। लोगों के मन में इस प्रकार का जब विश्वास हो जायगा तभी वे दत्तचित्त होकर आर्थिक कार्यों को करने में प्रवृत्त होंगे, अन्यथा काम चलाऊ कार्य करेंगे।

राज्य का हस्तक्षेप

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के प्रारम्भिक काल में राज्य को अपने कार्य यहीं तक सीमित रखने की धारणा थी। इनके अतिरिक्त आर्थिक कार्यों में उसका हस्तक्षेप उचित नहीं समझा जाता था। ऐसी धारणा थी कि यदि व्यक्तियों को अपने अपने हित के दृष्टिकोण से आर्थिक कार्यों को करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो और इसमें राज्य का किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो तो इससे न केवल व्यक्तियों का परन्तु समाज का भी अधिकतम हित हो सकेगा। इस मत के अनुसार व्यक्तियों के हित और समाज के हित में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। पूँजीवादी आर्थिक पद्धति की संस्थाएँ और मान्यताएँ इन दोनों प्रकार के हितों का सामंजस्य करने में योग्य और समर्थ

समझी जाती थीं। इन संस्थाओं और मान्यताओं के प्रभाव से देश की उत्पत्ति के साधनों के भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों में वितरण और भिन्न भिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं के भिन्न भिन्न मात्राओं में उत्पादन होने की प्रवृत्ति इस प्रकार समझी जाती थी जिससे अधिकतम आर्थिक क्षेम प्राप्त हो सके। इस प्रबन्ध में यदि किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप हो तो इससे आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न होने की आशंका रहती थी, जिसके फलस्वरूप समाज के आर्थिक क्षेम में कमी होने की सम्भावना हो जाती थी। अतएव आर्थिक कार्यों में राज्य का तटस्थ रहना ही ठीक समझा जाता था।

ज्यों ज्यों पूँजीवाद का विकास होता गया उसके अन्तर्गत कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होने लगीं कि राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक प्रतीत होने लगा। इनमें कुछ विशेष स्थितियाँ इस प्रकार थीं। पहले तो यह पद्धति सभी आर्थिक साधनों को सर्वदा पूर्ण रूप से काम में लाने में असमर्थ रही। ऐसा देखा गया कि समय समय पर बहुत से आर्थिक साधन बेकार पड़े रहते थे। साधनों की बेकारी के फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति की मात्रा में कमी आ जाती है और जीवन स्तर गिरने लगता है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया कि जिन वस्तुओं और सेवाओं को भिन्न भिन्न मात्राओं में उत्पन्न किया जाता था उनका आधार व्यक्तिगत लाभ होता था न कि सामाजिक हित, अर्थात् व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में विरोध पाया जाने लगा। यह आवश्यक नहीं है कि जिन वस्तुओं के उत्पादन से अधिकतम मौद्रिक लाभ हो उनसे अधिकतम सामाजिक कल्याण भी हो। तीसरी बात जो देखी गयी वह यह थी कि समाज में आय और सम्पत्ति के वितरण में असमानता होने लगी और बढ़ती गयी। कुछ ही व्यक्तियों के पास धन-सम्पत्ति के एक बड़े भाग का एकत्रीकरण होने लगा। अनेक उद्योग-धन्धों में बड़े पैमाने की उत्पत्ति के कारण और कुछ अन्य कारणों से भी एकाधिकार के तत्वों का समावेश होने लगा जिसके फलस्वरूप पूँजीवाद की एक प्रधान मान्यता, प्रतियोगिता, का संकुचन होने लगा। इन सब बातों के अतिरिक्त यह भी देखा गया कि पूँजीवाद

में आर्थिक प्रगति निर्बाध गति से नहीं होती है। बीच बीच में गत्यवरोध हो जाता है। आर्थिक मन्दी और बेकारी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की आर्थिक अस्थिरता का अत्यन्त गम्भीर परिणाम होता है।

हस्तक्षेप का स्वरूप

इस प्रकार की परिस्थितियों के कारण और इनके समाधान के लिए तथा इनकी रोकथाम के लिए आर्थिक कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप और सहयोग की आवश्यकता बढ़ती हुई मात्रा में प्रतीत होने लगी। वर्तमान काल में यह सहयोग और हस्तक्षेप इस मात्रा पर पहुँच चुका है कि अर्थ-तन्त्र का शायद ही कोई ऐसा अवयव हो जो कि इससे अछूता बचा हो। अनेक आर्थिक कार्य प्रत्यक्ष रूप में राज्य द्वारा सम्पादित होते हैं। अनेकों पर उसका नियंत्रण रहता है और अनेक उसके निरीक्षण में रहते हैं। जो व्यवसाय स्वतन्त्र दिखाई पड़ते हैं उन पर भी राजस्व-नीति, मौद्रिक नीति तथा अन्य आर्थिक विधानों द्वारा राज्य का प्रभाव पड़ता है। यह सब कार्य समाज के हित के निमित्त ही किये जाते हैं। उदाहरण के लिए जिन आर्थिक साधनों को स्वतंत्र उद्योग धंधे काम में लगाने में असमर्थ हैं, यदि उनको राज्य द्वारा आर्थिक कार्यों में लगाया जाय तो इससे उत्पादन में वृद्धि होगी तथा आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होगी। वितरण की असमानता में कमी करने से भी कुछ आर्थिक कल्याण में वृद्धि होने की ही सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए यदि राज्य वर्धमान करों द्वारा धनी व्यक्तियों की आय का कुछ अंश लेकर उसको निर्धन अथवा कम धनी व्यक्तियों और परिवारों के हित में लगाता है तो इससे वितरण की असमानता कम होती है और आर्थिक कल्याण की भी वृद्धि होती है। इसी प्रकार राज्य के दृष्टिकोण से जिन वस्तुओं के उत्पादन की आवश्यकता है परन्तु मौद्रिक रूप से लाभप्रद न होने से स्वतन्त्र उद्योग उनका उत्पादन नहीं कर रहा है, तो ऐसी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन राज्य द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि सामाजिक दृष्टि-

कोण से कुछ वस्तुओं की उत्पादन मात्रा में कमी करने की आवश्यकता हो अथवा उनका उत्पादन बिलकुल ही बन्द करना हो, तो राज्य उन पर भारी कर लगाकर अथवा कानून द्वारा ऐसा कर सकता है। राज्य की आर्थिक, राजस्व तथा मौद्रिक नीतियों द्वारा आर्थिक अस्थिरता में भी कमी लायी जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवादी अर्थ-पद्धति के अन्तर्गत वर्तमान समय में अनेक रूपों में राज्य और शासन का हस्तक्षेप पाया जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में व्यवधान दिखाई देता है। इस प्रकार की वस्तुस्थिति कम अथवा अधिक मात्रा में सभी पूँजीवादी देशों में पायी जाती है। यह भारत जैसे अविकसित देश में ही नहीं अपितु अमेरिका के संयुक्त राज्य जैसे समृद्ध और प्रगतिशील देश में भी पायी जाती है।

पूँजीवाद का अन्त ?

इन परिस्थितियों को देखते हुए क्या ऐसा कहना उचित होगा कि जिस जिस मात्रा में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है उस उस मात्रा में पूँजीवाद का भी अन्त होता जा रहा है ? कुछ विचारकों के मत में ऐसी बात नहीं है। राज्य का इस प्रकार का हस्तक्षेप पूँजीवाद की त्रुटियों को दूर करना है न कि पूँजीवाद का अन्त करना। पूँजीवाद के विकास में जो अपवाद और दोष प्रकट होते गये उनका समाधान करना ही शासन का कर्तव्य समझा गया है। भविष्य में पूँजीवादी आर्थिक पद्धति सुगमता-पूर्वक चलती रहे इसी प्रयोजन से शासन द्वारा उसके मार्ग की रुकावटों को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। मूल में तो आर्थिक पद्धति की रूप-रेखा पूँजीवादी ही है। अभी भी एक बड़े पैमाने पर उत्पादन लाभ की आशा पर बाजार और मूल्यों की क्रिया और प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित होता है। कुछ अंश में प्रतिस्पर्धा भी पायी जाती है और अनेक देशों में एकाधिकार के विरुद्ध कानून भी बने हैं। उत्पादकों और उपभोक्ताओं को भी पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्रता प्राप्त है।

पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के विरोधियों के मत में पूँजीवाद के तत्वों में ही उसका विनाश निहित है और अब उसकी अन्तिम घड़ी आ पहुँची है। इसका आर्थिक भवन जीर्ण हो चुका है। राज्य के हस्तक्षेप द्वारा उसके छिद्रों को बन्द करने का और उसकी लीपापोती करने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे यह भवन ढह न जाय। दूसरे शब्दों में कहा जाता है कि पूँजीवादी शरीर अब रोगी और जर्जर हो गया है और अब राज्य-हस्तक्षेप की औषधियों और इंजेक्शनों द्वारा उसको जीवित रखने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन लोगों के मतानुसार इस प्रकार की चिकित्सा द्वारा पूँजीवादी पद्धति की हमेशा के लिए रक्षा नहीं की जा सकती है। इनके विचार में आर्थिक इतिहास में पूँजीवाद एक अध्याय है जो अब समाप्ति पर है। इस मत की पुष्टि तो भविष्य ही कर सकेगा परन्तु लक्षण कुछ इसी प्रकार के हैं। विशुद्ध रूप में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था तो कभी भी नहीं रही परन्तु अब उसमें राज्य का इतना हस्तक्षेप हो गया है कि उसको मिश्रित अर्थ-व्यवस्था कहना ही उचित होगा। समाजवाद का एक मत यह भी है कि शनैः शनैः उद्योग धन्धों के राष्ट्रीयकरण इत्यादि द्वारा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में परिणत हो जायगी।

राज्य और समाजवादी पद्धति

समाजवादी आर्थिक पद्धति में तो राज्य और शासन को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस पद्धति में उत्पादन के साधनों का स्वामित्व राज्य के अधीन रहता है और राज्य द्वारा ही यह निश्चय किया जाता है कि इन साधनों का प्रयोग किस प्रकार से हो अर्थात् कौन सी वस्तुएँ और सेवाएँ किन मात्राओं में, किस प्रकार, कब और कहाँ उत्पन्न की जायँ। सभी प्रकार के आर्थिक निर्णय राज्य द्वारा ही किये जाते हैं। सारे देश के लिए एक सर्वांगीण आर्थिक योजना बनायी जाती है और इसी योजना के अनुसार आर्थिक कार्य सम्पादित किये जाते हैं। यह हो सकता है कि योजनाधिकारी योजना का निर्माण करते समय उपभोक्ताओं की आव-

क्षयकताओं को ध्यान में रखें और उनको बाजार की स्थिति से योजना बनाने में सहायता मिले। परन्तु अन्ततोगत्वा राज्य-स्तर पर ही योजना को उसका स्वरूप प्राप्त होता है और शासन द्वारा उसका संपादन करवाया जाता है।

समाजवादी आर्थिक पद्धति में किस प्रकार की शासन पद्धति होगी इसमें अनेक मत हैं। कुछ समाजवादी विचारकों के मत में चूंकि इस व्यवस्था में वर्गहीन समाज की स्थापना करने का उद्देश्य है, जिसमें प्रत्येक नागरिक का देश के शासन में हाथ रहेगा और चूंकि उत्पत्ति के साधन समाज के अधीन रहते हैं अतएव इसका वास्तविक संचालन प्रजातन्त्रात्मक शासन द्वारा ही हो सकता है। समाज के सभी व्यक्तियों के सहयोग द्वारा आर्थिक योजना का निर्माण और उसका सम्पादन होना चाहिए। समाज के व्यक्तियों की इच्छाओं और आकांक्षाओं के अनुसार ही आर्थिक निर्णय होने चाहिए। राज्य को वही करना चाहिए जो प्रजा को मान्य हो। इस प्रकार की कार्यपद्धति जनतन्त्रात्मक ही हो सकती है। यह आवश्यक है कि इस प्रकार के शासन में लोग शिक्षित हों, अपना हित और अहित भली प्रकार से जानें और उपयुक्त निर्णय लेकर उसको कार्यान्वित कर सकें। इसके लिए उपयुक्त विधान, वैधानिक संस्थाएँ, नियम और राज्यकर्मचारियों की आवश्यकता होती है।

तानाशाही राज्य

कुछ लोगों के मतानुसार सांगोपांग नियोजित आर्थिक पद्धति और जनतन्त्रात्मक शासन पद्धति का मेल नहीं बैठता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के निर्माण और उसके प्रभावात्मक सम्पादन के लिए केन्द्रीकृत आर्थिक तथा राज्य शक्ति की आवश्यकता होती है। नियोजित आर्थिक पद्धति के अन्तर्गत शासन सूत्र की तमाम शक्तियों का एकत्रीकरण होने लगता है। योजनाधिकारी और शासनाधिकारी समझने लगते हैं कि वे समाज की आवश्यकताओं का अनुमान

स्वयमेव ठीक ठीक लगा सकते हैं। ये लोग इस प्रकार अपनी शक्ति का उपयोग अथवा दुरुपयोग करते हैं जिससे कि अपने अपने पदों पर आसीन रह सकें और इन्हीं की योजना के अनुसार सभी कार्य हों। ऐसी स्थिति में शासन पद्धति जनतन्त्रात्मक न होकर तानाशाही का रूप धारण कर लेती है। वर्तमान काल में रूस एक ऐसा देश है जहाँ समाजवादी आर्थिक पद्धति का गत चार दशकों से प्रयोग हो रहा है। रूस का अर्थतन्त्र योजना-बद्ध है और योजना का निर्माण केन्द्रीय स्तर पर होता है। यदि हम रूस की शासन पद्धति का अध्ययन करें तो विदित होता है कि यद्यपि बाहरी रूप में वह जनतन्त्रात्मक प्रतीत होती है, जिसमें राज्य की संस्थाओं का निर्वाचन होता है, परन्तु वास्तव में यह निर्वाचन नाम मात्र का ही होता है। रूस में कम्यूनिस्ट पार्टी का इतना जोर और दबदबा है और लोगों पर उसका इतना आतंक है कि उन्हीं लोगों का शासन कार्यों के लिए निर्वाचन होता है जिनको पार्टी का समर्थन प्राप्त हो। इसी प्रकार यद्यपि जनता को सरकार के कार्यों की टीका टिप्पणी करने का अधिकार है परन्तु डर के मारे कोई ऐसा करने का साहस नहीं कर पाता है। वास्तव में इस देश का शासन-सूत्र एक शक्तिशाली पार्टी के हाथ में है जिसके नेता (विशेष कर एक ही व्यक्ति) तानाशाही ढंग पर शासन करते हैं।

राज्य और साम्यवादी व्यवस्था

एक विचारधारा के अनुसार जब समाजवादी अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से साम्यवादी हो जायगी अर्थात् जब साम्यवाद की सभी मान्यताएँ कार्य रूप में परिणत हो जायँगी और जब व्यक्तियों से उनकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाने लगेगा और उनको उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ और सेवाएँ दी जाने लगेगी, ऐसी चरम अवस्था में राज्य और शासन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सामाजिक व्यवस्था स्वयमेव अपने में ही निहित नियमों द्वारा शासित होती रहेगी। बाहरी शासन का लोप हो जायगा। इसी आदर्श की ओर समाज का जाना अनिवार्य समझा जाता

है। इस मत के अनुसार आधुनिक समाजवादी व्यवस्था इस दिशा में ले जाने वाली एक अवस्था मात्र है, अन्ततोगत्वा यह आदर्श समाजवाद अर्थात् साम्यवाद तक पहुँच जायगी। इस भविष्यवाणी में कितना तथ्य है यह तो भविष्य ही बताएगा। परन्तु जितनी निरंकुशता और बर्बरता के साथ समाजवादी देशों में शासन पद्धति का उपयोग किया जाता है उससे तो यही परिणाम निकलता है कि राज्य और शासन रहित समाज व्यवस्था कोरी कल्पना मात्र है।

राज्य और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था

मिश्रित आर्थिक पद्धति में शुद्ध पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा राज्य और शासन का अधिक महत्व है। इस पद्धति में शासन द्वारा न केवल ऐसी परिस्थिति बनायी और स्थापित की जाती है जिसके अन्तर्गत पूँजीवादी संस्थाओं और मान्यताओं की रक्षा होती रहे और उनके अनुसार आर्थिक कार्य होते रहें, अपितु अनेक आर्थिक कार्यों को राज्य स्वयं सम्पादित करता है और अन्य कार्यों के लिए अपना सहयोग प्रदान करता है। शासन के हस्तक्षेप की मात्रा भी बढ़ जाती है। कुछ हस्तक्षेप और सार्वजनिक आर्थिक कार्य तो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में भी रहते ही हैं। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की विशेषता यह है कि इसके द्वारा सारे अर्थतन्त्र को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र और उसके कार्यों में इतनी वृद्धि हो जाती है कि उसका प्रभाव सारे अर्थतन्त्र पर पड़ता है। कुछ मिश्रित अर्थ-पद्धति वाले देशों (जैसे कि भारतवर्ष) में शासन द्वारा सारे देश के लिए आर्थिक योजनाएँ बनायी जाती हैं जिनका संपादन कुछ अंशों में सार्वजनिक क्षेत्र में होता है और कुछ अंशों में निजी क्षेत्र में होता है। निजी क्षेत्र में कुछ स्वाधीनता तो अवश्य रहती है परन्तु कुछ इस प्रकार की व्यवस्था की जाती है कि दोनों क्षेत्रों में समन्वय हो और दोनों एक दूसरे के पूरक रहें। इस प्रकार शासन द्वारा सारे अर्थतन्त्र को उसका स्वरूप और दिशा मिलती है। आर्थिक क्रियाएँ किस प्रकार की

हों और किस प्रकार इनका सम्पादन हो यह बहुत अंश तक राज्य द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थतन्त्र को किसी विशेष दिशा में प्रेरित करने के लिए राज्य और शासन के कार्य भी बढ़ जाते हैं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, इस अर्थ-व्यवस्था में अनेक उद्योग-धन्धों, विशेष कर आधारभूत उद्योग-धन्धों, का राष्ट्रीयकरण हो जाता है अर्थात् ये सार्वजनिक क्षेत्र में आते हैं और इनका संपादन राज्य द्वारा अथवा उसके निर्देशन में किसी राज्य संस्था द्वारा होता है। अन्य उद्योग धन्धों के लिए भी अनेक प्रकार के नियम बनाये जाते हैं और उनको अपना कार्य इन्हीं नियमों के अन्तर्गत करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, बैंकों के नियम बैंकों के कार्य का नियंत्रण करते हैं। इसी प्रकार कारखानों में मजदूरों के काम करने की अधिकतम अवधि तथा न्यूनतम मजदूरी के नियम राज्य द्वारा बनाये जाते हैं जो उनके कार्यों का नियमन करते हैं।

राजस्व नीति

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में राजस्व नीति को बहुत महत्व प्राप्त है। इसमें कर सम्बन्धी नीति, राज्य की व्यय सम्बन्धी नीति और ऋण की नीति निहित रहती है। कर-व्यय-ऋण नीति में परिवर्तन करके अर्थतन्त्र को विशेष रूप में प्रभावित किया जा सकता है। गत विश्वव्यापी आर्थिक सकट के बाद राजस्व नीति का प्रयोग बहुत बढ़ गया है। अनेक देशों में सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का एक तिहाई से भी बड़ा भाग करों के रूप में राज्य को उपलब्ध होता है और उसके द्वारा व्यय किया जाता है। युद्ध की स्थिति में तो आधे से भी अधिक राष्ट्रीय आय का उपयोग राज्य द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार राजस्व नीति के द्वारा आधुनिक काल में अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है।

राजस्व नीति के अतिरिक्त अनेक प्रकार के कानूनों के द्वारा भी अर्थ-तन्त्र का नियंत्रण किया जाता है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में

जमींदारी उन्मूलन कानून, कम्पनी कानून इत्यादि द्वारा आर्थिक कार्यों पर राज्य का हस्तक्षेप और नियन्त्रण बढ़ता जा रहा है।

मुद्रानीति का भी आर्थिक कार्यों और सम्बन्धों में पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ता है। यद्यपि देश की मुद्रानीति प्रधानतया केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित तथा सम्पादित होती है परन्तु इस नीति के निर्माण में राज्य का हाथ भी रहता है। जिन देशों में केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया है वहाँ तो राज्य का प्रभाव और भी अधिक रहता है और जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं है वहाँ की मुद्रानीति तो राज्य द्वारा ही निश्चित की जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रित आर्थिक पद्धति में राज्यशासन द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र का तो प्रत्यक्ष रूप में संचालन होता है और निजी क्षेत्र का भी अनेक प्रकार से निर्देशन, नियमन तथा नियन्त्रण होता है।

राज्य और फासिस्ट पद्धति

फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था में राज्य का महत्व व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक समझा जाता है। राज्य का अपना निजी जीवन माना जाता है और उसकी अपनी आवश्यकताएँ और उद्देश्य होते हैं। व्यक्तियों का महत्व अपने निमित्त नहीं परन्तु राज्य के उद्देश्यों को पूर्ण करने में साधनभूत होना होता है। फासिस्ट-दर्शन के अनुसार जिस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर की तुलना में एक सूक्ष्म अवयव का कोई अधिकार नहीं होता है क्योंकि उसका अस्तित्व ही शरीर पर निर्भर रहता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण समुदाय के बाहर किसी व्यक्ति के अस्तित्व का न कोई कारण है और न प्रयोजन। इस विचारधारा के अनुसार व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं अपितु राज्य के प्रति कर्तव्य होते हैं जिनका पालन करना उसके लिए किसी भी मूल्य पर आवश्यक समझा जाता है।

इस संदर्भ में फासिस्ट लोग प्रजातन्त्र को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इनके मत में साधारण व्यक्ति इतने मूढ़ होते हैं और अपने निजी कार्यों

में इतने निमग्न रहते हैं कि उनको शासन में और शासन सम्बन्धी नीति में भाग लेने के अयोग्य समझा जाता है। अतएव राज्य का शासन कुछ चुने हुए, योग्य, साहसी और शक्तिशाली नेताओं के हाथ में रहता है। इस प्रकार तानाशाही शासन की स्थापना होती है जिसका एक प्रधान नेता होता है। फासिस्ट कहते हैं कि इस प्रकार का शासन वास्तव में तानाशाही नहीं होता है। व्यक्तियों को पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्रता रहती है यद्यपि इस स्वतन्त्रता की मर्यादा शासन द्वारा ही निर्धारित होती है।

फासिस्टवाद समाजवाद के सिद्धान्तों को मान्यता नहीं देता है। मनुष्यों के जीवन में और इतिहास के मार्ग-प्रदर्शन में वह आर्थिक क्रियाओं को महत्व नहीं देता है। ऊपरी तौर पर फासिज्म एक मर्यादा के भीतर पूँजीवादी संस्थाओं और मान्यताओं का समर्थन करता है। पूँजीवाद के अन्तर्गत उत्पादन की रीतियों को भी उपयुक्त समझा जाता है यद्यपि इनका उद्देश्य अधिक वांछनीय नहीं माना जाता। इनके मत में आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य केवल उत्पादन को अधिकतम करने अथवा व्यक्तियों के रहन सहन को ऊँचा करने के ही निमित्त नहीं होना चाहिए। राज्य के राजनीतिक तथा अन्य उद्देश्यों को प्रधान लक्ष्य समझना चाहिए और सभी आर्थिक कार्यों और नीतियों को इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के अन्तर्गत रहना चाहिए। इनका कहना है कि यदि पूँजीवाद की संस्थाओं और मान्यताओं को निर्बाधित रूप से आर्थिक कार्य करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो संभव है कि उसका परिणाम केवल व्यक्तियों के लाभ के निमित्त हो न कि राष्ट्र के हित के निमित्त। अतएव राज्य को उचित है कि वह अपने स्वार्थ के लिए हस्तक्षेप करे और उन कार्यों पर नियंत्रण रखे। यदि राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के फलस्वरूप व्यक्तियों का जीवन-स्तर गिर भी जाय तो यह कोई विशेष महत्व की बात नहीं समझी जाती। इस प्रकार स्पष्ट है कि फासिस्ट राज्य के अन्तर्गत आर्थिक क्षेत्र में शासन का पूर्ण नियंत्रण रहता है।

अध्याय ६

पूँजीवाद

आर्थिक पद्धतियों के प्रकार

पिछले चार अध्यायों में आर्थिक पद्धतियों के अन्तर्गत कुछ विषयों का वर्णन किया गया। इस वर्णन के संदर्भ में भिन्न भिन्न आर्थिक पद्धतियों का भी उल्लेख किया गया। यह उल्लेख विशेष कर ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में अथवा संस्थाओं, आस्थाओं और मान्यताओं के विश्लेषण के रूप में किया गया। अब मुख्य मुख्य आर्थिक पद्धतियों का क्रमबद्ध विशिष्ट रूप से विवेचन किया जायगा। जैसा कि दूसरे अध्याय में बतलाया जा चुका है, वास्तविक जगत् में कोई भी आर्थिक पद्धति अपने विशुद्ध रूप में नहीं पायी जाती है। भौगोलिक, ऐतिहासिक इत्यादि कारणों से प्रत्येक देश-काल में आर्थिक पद्धतियाँ प्रभावित होती रहती हैं। तथापि कुछ मूलाधार संस्थाओं और मान्यताओं के आधार पर कतिपय आर्थिक पद्धतियाँ सामने आती हैं और प्रत्यक्ष में अपने स्वरूप, गुण और कार्यों की द्योतक होती हैं। किसी भी देश अथवा समाज के आर्थिक कार्यों और सम्बन्धों को जानने और समझने के लिए यह परमावश्यक है कि उस देश और समाज की तत्कालीन आर्थिक पद्धति को मालूम किया जाय। क्योंकि उस आर्थिक पद्धति के अन्तर्गत ही इनकी स्थापना और इनका सम्पादन होता है।

इस पुस्तक में हम चार प्रकार की आर्थिक पद्धतियों का वर्णन और विश्लेषण करेंगे। वे हैं—(१) पूँजीवादी आर्थिक पद्धति, (२) समाजवादी आर्थिक पद्धति, (३) मिश्रित आर्थिक पद्धति तथा (४) फासिस्ट आर्थिक पद्धति। पहले पूँजीवादी पद्धति को लेते हैं।

पूँजीवादी अर्थ-पद्धति में पूँजी का स्थान

पूँजीवादी आर्थिक पद्धति को संक्षेप में “पूँजीवाद” भी कहा जाता है। कभी कभी पूँजीवाद से इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था समझी जाती है जिसमें पूँजी का उपयोग हो। परन्तु यह धारणा उचित नहीं है। पूँजी का उपयोग तो सभी प्रकार की आर्थिक पद्धतियों में होता है। उदाहरण के लिए वर्तमान रूस में समाजवादी आर्थिक पद्धति है परन्तु वहाँ पूँजी का संचय और उसका आर्थिक कार्यों में उपयोग एक बड़ी मात्रा में पाया जाता है। एक बात अवश्य है कि पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के विकास से पहले पूँजी बहुत कम परिमाण में प्राप्त थी। पूँजी का संचय और उत्पादन-कार्यों में उसका उत्तरोत्तर प्रयोग पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही होने लगा। एक ने दूसरे को बढ़ावा दिया। परन्तु इस काल में जिन मशीन, कल-कारखाने, वाष्पशक्ति, विद्युतशक्ति, रेल, जहाज, तार, टेलीफोन इत्यादि रूपों में पूँजी का आविष्कार तथा विकास हुआ उसका उपयोग पूँजीवादी आर्थिक पद्धति तक ही सीमित नहीं रहा। अन्य आर्थिक पद्धतियों में भी उसका प्रयोग हुआ है।

पूँजीवाद में “पूँजी” शब्द का महत्व उसके उपयोग से नहीं परन्तु उसके स्वामित्व से सम्बन्धित है। इस अर्थ-पद्धति में “पूँजी” जो कि उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है, निजी सम्पत्ति के रूप में रहती है और उसके स्वामी को अधिकार रहता है कि जिस प्रकार चाहे उसका उपयोग करे। “पूँजी” से तात्पर्य केवल द्रव्य अथवा मुद्रा से नहीं है परन्तु वास्तविक पूँजी से है जो मशीन, औजार, कल-कारखानों के रूप में पायी जाती है। इस सन्दर्भ में जो भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति हो गयी है वह भी पूँजी के रूप में मानी जा सकती है। इस प्रकार उत्पत्ति के दो प्रधान साधनों—भूमि और पूँजी—का स्वामित्व पूँजीवाद में व्यक्तिगत होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पूँजीवाद में सार्वजनिक सम्पत्ति होती ही नहीं है। सार्वजनिक क्षेत्र में भी पूँजी होती है परन्तु कुल पूँजी की तुलना में यह इतनी कम होती है कि इसका विशेष आर्थिक प्रभाव नहीं रहता है।

पूँजीवाद का अभ्युदय और उसका संचालन

पूँजीवाद का अभ्युदय कब हुआ यह बतलाना कठिन है। ऐसा समझा जाता है कि सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में इसका बीजारोपण हुआ। इसके पूर्व की अर्थ व्यवस्था सामन्तवादी कही जाती थी, जिसके अन्तर्गत आर्थिक साधन, विशेष रूप में भूमि, जागीरदारों, महन्तों और सामन्तों के अधीन थी। दूसरा कार्यशील वर्ग कृषक-दासों का था। धीरे धीरे व्यापार, शिल्प, मुद्रा और श्रम विभाजन के फलस्वरूप सामन्तवादी प्रथा का अन्त हो गया। प्रारम्भ में घरेलू और कुटीर उद्योग-धन्धों की स्थापना हुई। बाद में भाप, बिजली, मशीन इत्यादि आविष्कारों के फलस्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पादन का कार्य प्रारंभ हुआ। बड़े बड़े कल-कारखानों की स्थापना हुई जिनमें हजारों की संख्या में मजदूर काम करने लगे। पूँजी में वृद्धि हुई और वह कुछ ही व्यक्तियों के पास एकत्रित हो गयी। इस प्रकार पूँजीपति और मजदूर दो प्रधान वर्ग बन गये। पूँजीवाद का उत्कर्ष १९वीं सदी में हुआ। इस प्रणाली के अभिभावकों में एडम स्मिथ, रिकार्डों इत्यादि अर्थशास्त्री थे।

अब प्रधान प्रश्न यह है कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का संचालन किस प्रकार से होता है, अर्थात् आर्थिक साधनों का किस प्रकार से उपयोग किया जाता है? कितने साधन उपभोग की वस्तुओं के लिए और कितने उत्पादक वस्तुओं के लिए उपलब्ध होते हैं? कौन कौन सी वस्तुएँ किस किस मात्रा में, कब, कहाँ और किस विधि से उत्पन्न की जाती हैं? तीसरे अध्याय में हमने इस पद्धति की संस्थाओं और मान्यताओं का वर्णन करते हुए इसके अंतर्गत उत्पादन और उपभोग की स्वतन्त्रता, प्रतियोगिता और मुद्रा-मूल्य-बाजार का विश्लेषण किया है। यह भी बतलाया है कि पूँजीवाद में किसी प्रकार की केन्द्रीय आर्थिक योजना नहीं होती जिसका निर्माण और संचालन योजनाधिकारी और राज्य-कर्मचारी द्वारा-सम्पादित होता हो।

क्योंकि पूंजीवादी आर्थिक पद्धति में व्यक्तियों अथवा संस्थाओं को आर्थिक कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है अतएव इस पद्धति को स्वतन्त्र उद्योग पद्धति भी कहा जाता है। और क्योंकि इसके अन्तर्गत जो व्यक्तिगत आर्थिक योजनाएँ बनायी जाती हैं वे बाजार और विनिमय के आधार पर बनती हैं अतएव इस पद्धति को विनिमय-पद्धति और बाजार-पद्धति भी कहते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि अन्य पद्धतियों में विनिमय अथवा बाजार नहीं पाये जाते। आधुनिक अर्थ-तन्त्र में, चाहे वह किसी पद्धति के अन्तर्गत कार्य करता हो, बिना बाजार और विनिमय के काम चल ही नहीं सकता। अन्तर केवल इतना ही है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण और संचालन में जो महत्वपूर्ण स्थान इनको प्राप्त है और जो इनका प्रभाव है वह अन्य आर्थिक पद्धतियों में नहीं पाया जाता है।

इस पृष्ठभूमि में अब हम अपने ऊपर दिये गये प्रधान प्रश्न को हल करने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कि किसी व्यक्ति के पास कुछ आर्थिक साधन हैं जिनका उपयोग करने के लिए वह स्वतन्त्र है। उसके सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि वह किस प्रकार इन साधनों का उपयोग करे, अर्थात् सम्भावित वस्तुओं में किन किन वस्तुओं का किन किन मात्राओं में उत्पादन करे और भिन्न भिन्न साधनों का किस अनुपात में सम्मिश्रण करे। वास्तव में यह प्रश्न कभी कभी प्रच्छन्न रहता है और कभी कभी प्रत्यक्ष रहता है। प्रच्छन्न इस आशय में रहता है कि आर्थिक साधनों का उपयोग कुछ तो परम्पराओं और मान्यताओं के अन्तर्गत होता ही रहता है। इसमें कुछ अधिक सोचने की आवश्यकता नहीं रहती है। कुछ निर्णय अवश्यमेव स्वतन्त्र रूप से लिये जाते हैं, अर्थात् केवल परिपाटी के अनुसार ही नहीं परन्तु नवीन वस्तुस्थिति के आधार पर लिये जाते हैं।

थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि हमारे उदाहरण वाला व्यक्ति अपने ही उपभोग के लिए उत्पादन करता है, अर्थात् विनिमय और बाजार से वह अप्रभावित रहता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वह अपने साधनों

का उपयोग उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में करेगा जिनसे उसकी आवश्यकता की अधिकतम पूर्ति हो। प्रत्येक मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। परन्तु सभी आवश्यकताएँ समान महत्व की नहीं होती हैं। आवश्यकताओं की तीव्रता की मात्रा में अन्तर होता है। किसी समय एक आवश्यकता अधिक तीव्र प्रतीत होती है तो किसी समय दूसरी आवश्यकता तीव्र प्रतीत होती है। किसी समय विशेष में तीव्रता की मात्रा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं का प्राथमिकता सम्बन्धी मापदण्ड होता है। यह मापदण्ड कोई अपरिवर्तनशील नहीं होता है। कभी कोई आवश्यकता ऊपर रहती है बाद में वही नीचे आ जाती है और दूसरी आवश्यकता ऊँची चढ़ जाती है। इस मापदंड में विविध आवश्यकताओं का स्थान अनेक बातों पर निर्भर रहता है। इसमें व्यक्ति के स्वभाव, आदत, आस्था, परम्परा इत्यादि का भी हाथ रहता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की आशाएँ, आकांक्षाएँ, उसका ज्ञान, बुद्धि, विद्या, विवेक, उसकी आय और अनुकरण करने की प्रवृत्ति इनका भी प्रभाव पड़ता है। इन सभी बातों के प्रभाव से जब किसी व्यक्ति की आवश्यकताओं की तीव्रता और प्राथमिकता का माप-दंड बन जाता है तो इसकी सहायता से उसको अपने साधनों को विविध आवश्यकताओं की तृप्ति करनेवाली वस्तुओं के उत्पादन में वितरण करने में सुगमता हो जाती है। इस प्रकार अपने साधनों के उपयोग से उसको अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। ऐसा नहीं है कि एक बार जब किसी एक प्रकार से साधनों का वितरण कर दिया तो बार-बार उसी प्रकार से उनका उपयोग किया जाय। ऐसा तो तभी होगा जब व्यक्ति की इच्छाओं, आवश्यकताओं, रुचि, फैशन, साधन इत्यादि में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। क्योंकि इनमें परिवर्तन होता रहता है अतएव उसको अपने साधनों के उपयोग में भी बदलाव करना पड़ता है जिससे उसकी आवश्यकताओं की अधिकतम सन्तुष्टि हो सके। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति अपने ही उपभोग के लिए उत्पादन करता है तो उन्हीं वस्तुओं को विविध मात्रा में

उत्पन्न करता है जो उसके तत्कालीन आवश्यकता के मापदंड के अनुकूल हों। अपने विवेक और अन्तर्दृष्टि की सहायता से प्रत्येक व्यक्ति इस मापदंड के सम्पर्क में रहता है और इसी के अनुसार अपनी उत्पादन योजना बनाता है। यदि इसमें कहीं कोई भूल मालूम होती है तो वह उसमें सुधार कर लेता है।

अब हम इस उदाहरण में बदलाव करके उसको अधिक वास्तविक बनाने का प्रयत्न करते हैं। श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण और विनिमय के फलस्वरूप कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति अपने लिए नहीं परन्तु दूसरों के लिए वस्तुएँ बनाता है और दूसरे लोग उसके लिए वस्तुएँ बनाते हैं और परस्पर आदान-प्रदान से एक दूसरे की आवश्यकताओं की संतुष्टि करते हैं। अपने इस उदाहरण में हम मुद्रा और बाजार का भी प्रयोग करेंगे। पिछले एक अध्याय में बतलाया जा चुका है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में क्रय-विक्रय की प्रथा का प्रयोग होता है। अर्थात् व्यक्ति अपनी वस्तुओं और सेवाओं का विक्रय करके उनके बदले मुद्रा प्राप्त करता है और मुद्रा द्वारा अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं और सेवाओं का क्रय करता है जिनके उपयोग से उसको सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

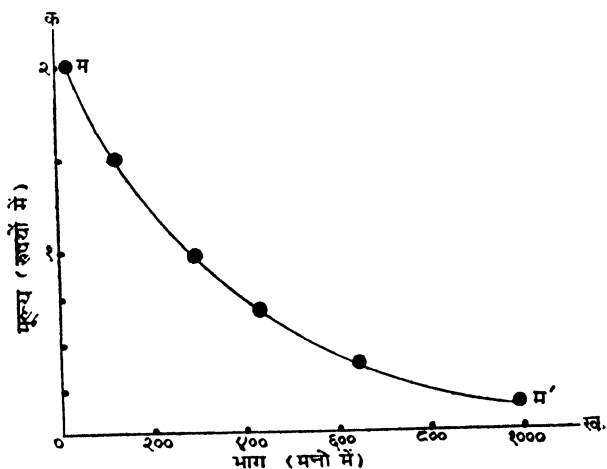
बाजार और मूल्य का प्रभाव

स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन का प्रयत्न करेगा जिनके विक्रय से उसको अधिकतम मौद्रिक आय हो, क्योंकि जितनी अधिक उसकी आय होगी उतनी ही अधिक मात्रा में वह अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि कर सकेगा। यह मौद्रिक आय उसको उन व्यक्तियों से प्राप्त होती है जो उसकी वस्तुओं को खरीदते हैं, अर्थात् जिनमें उसकी वस्तुओं की माँग होती है। अतएव अपने ही स्वार्थ और हित के लिए वह अपने साधनों से उन्हीं वस्तुओं का निर्माण करता है जिनकी माँग हो और जिनके बदले में उसको अधिकतम मुद्रा प्राप्त हो सके। अब प्रश्न यह है कि उसको किस प्रकार मालूम हो कि कौन सी वस्तुओं की

किस मात्रा में माँग है। इसका बोध बाजार के अध्ययन से होता है। बाजार में ही क्रेता और विक्रेता, माँग और पूर्ति का संघात होता है। यदि किसी व्यक्ति ने एक ऐसी वस्तु का उत्पादन कर दिया जिसकी माँग है ही नहीं तो वह वस्तु बिकेगी ही नहीं और वैसी ही पड़ी रहेगी। उसके उत्पादक को कुछ भी प्राप्ति नहीं होगी और वह भविष्य में उसका उत्पादन बन्द कर देगा। जिस वस्तु की माँग होती है उस वस्तु की बिक्री भी होती है। भिन्न भिन्न कीमतों पर किसी वस्तु की बिक्री की मात्रा भी भिन्न भिन्न होती है।

माँग का नियम

माँग का एक महत्वपूर्ण नियम है कि किसी वस्तु की माँग कम कीमत पर अधिक होती है और अधिक कीमत पर कम होती है। इस नियम को सारणी तथा रेखाचित्र द्वारा समझाया जा सकता है—



मूल्य

२.०० रुपया प्रति सेर

माँग

५० मन

१.५०	रूपया प्रतिसेर	१०० मन
१.००	" "	२०० "
०.७५	" "	४०० "
०.५०	" "	६०० "
०.२५	" "	१००० "

ऊपर दूध की मांग की सारणी तथा तत्सम्बन्धी रेखाचित्र दिया गया है। इस सारणी से स्पष्ट है कि जैसे जैसे दूध का मूल्य घटता जाता है उसकी मांग में वृद्धि होती जाती है।

रेखाचित्र में ०क रेखा पर मूल्य और ०ख रेखा पर दूध की मांग दिखायी गयी है। म म' मांग की रेखा है। इससे भी ज्ञात होता है कि कम मूल्य पर मांग अधिक है और अधिक पर कम है।

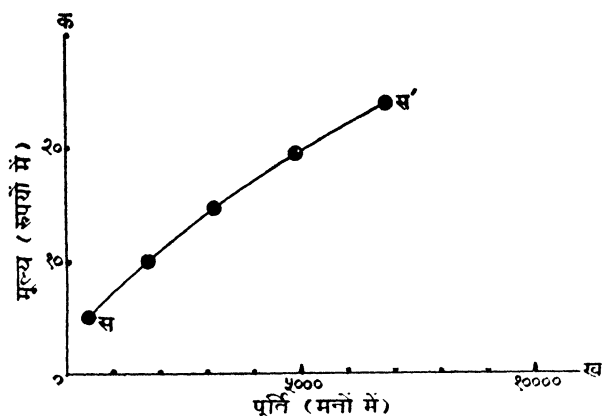
यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहें तो किसी वस्तु की मांग में वृद्धि के फलस्वरूप मूल्य में भी वृद्धि होने लगती है और मांग के घटने के फलस्वरूप मूल्य भी घटने लगता है। अन्य बातें समान रहने पर मूल्य की वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादकों के लाभ में वृद्धि होती है और मूल्य के घट जाने से लाभ में भी कमी होने लगती है अथवा घाटा होने लगता है। वस्तुओं का मूल्य, उन पर लागत-व्यय और इन दोनों के अन्तर के फलस्वरूप लाभ अथवा हानि की मात्रा, यही सब बातें उत्पादकों को सूचित करती हैं कि किस वस्तु का उत्पादन किस मात्रा में किया जाय। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि पूँजीवाद के अन्तर्गत लाभ की आशा ही मुख्य संचालक शक्ति है। सभी साधनों के स्वामी यही चाहते हैं कि साधनों का उपयोग इस प्रकार किया जाय कि उससे उनको अधिकतम लाभ प्राप्त हो, क्योंकि अधिकतम लाभ की सहायता से ही वे अपनी आवश्यकताओं की अधिकतम तृप्ति भी कर सकते हैं। ऐसा भी होता है कि कुछ उत्पादक अधिकतम लाभ की अपेक्षा एक निश्चित लाभ की दर को बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ काम-धन्धों में केवल मौद्रिक आय को ही महत्व नहीं दिया जाता परन्तु मौद्रिकेतर उपलब्धियों को भी ध्यान में रखा जाता है।

उदाहरण के लिए विश्वविद्यालय के किसी अध्यापक की मौद्रिक आय अधिक न होने पर भी वह किसी अधिक मौद्रिक आय वाले धन्वे को पसन्द न करे, क्योंकि विश्वविद्यालयों में एक विशेष प्रकार का शैक्षिक वातावरण रहता है तथा कार्य भी रोचक होता है। परन्तु अन्य सब बातें समान होने पर कोई भी व्यक्ति अपने श्रम का तथा अपने अन्य आर्थिक साधनों का प्रयोग उन्ही वस्तुओं अथवा सेवाओं के उत्पादन में लगाने की चेष्टा करेगा जिसमें उसको अधिकतम लाभ की आशा हो।

पूर्ति का नियम

यदि किसी आर्थिक साधन से किसी विशेष उद्योग में दूसरे उद्योग से अधिक आय होती हो तो उस साधन की प्रवृत्ति दूसरे उद्योग से हटकर पहले उद्योग में जाने की होगी। उदाहरण के लिए यदि किसी किसान को मालूम हो कि वह अपने खेत में गेहूँ के बदले कपास बोए तो उतने ही व्यय से प्रति एकड़ उसको अधिक लाभ हो सकता है, तब उसको ऐसा करने की प्रवृत्ति होगी। यदि अनेक किसान ऐसा ही करने लगें तो कपास के उत्पादन में वृद्धि और गेहूँ के उत्पादन में कमी होने लगेगी। अन्य बातें समान रहने पर इसके फलस्वरूप कपास की कीमत गिरने लगेगी और गेहूँ की बढ़ने लगेगी। पूर्ति का एक महत्वपूर्ण नियम है कि अन्य बातें समान रहने पर किसी वस्तु की पूर्ति में वृद्धि होने से उसकी कीमत घटने लगती है और पूर्ति में कमी होने से कीमत बढ़ने लगती है। इस नियम को भी सारणी तथा रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से दिखलाया जा सकता है।

मूल्य	पूर्ति
५.०० रुपया प्रति मन	५०० मन गेहूँ
१०.०० रुपया प्रति मन	१००० मन गेहूँ
१५.०० रुपया प्रति मन	२००० मन गेहूँ
२०.०० रुपया प्रति मन	६००० मन गेहूँ
२५.०० रुपया प्रति मन	१०००० मन गेहूँ



पूर्वोक्त उदाहरण में कपास की कीमत घटने से उसके उत्पादन में लाभ भी कम होने लगेगा और गेहूँ की कीमत में वृद्धि होने से उसका उत्पादन अधिक लाभदायक होने लगेगा। गेहूँ के स्थान पर कपास का उत्पादन करते करते एक समय ऐसा आ जायगा कि ये दोनों पदार्थ समान रूप से लाभप्रद हो जायेंगे। यहाँ पर किसान की गेहूँ अथवा कपास के उत्पादन में तटस्थता की स्थिति हो जायगी, क्योंकि दोनों का उत्पादन समान रूप में लाभदायक हो गया है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में समान साधन से प्रत्येक व्यवसाय में समान आय होने की प्रवृत्ति होती है। यदि समान आय न हो तो साधन कम आय वाले व्यवसाय को छोड़कर अधिक आय वाले व्यवसाय में लगाया जायगा। ऐसा करने से अधिक आय वाले व्यवसाय में पूर्ति की वृद्धि और कम आय वाले व्यवसाय में पूर्ति की कमी होने लगेगी, जिसके फलस्वरूप अधिक आय वाला व्यवसाय कम लाभप्रद और कम आय वाला व्यवसाय अधिक लाभप्रद होने लगेगा। साधन का आवागमन तभी रुकेगा जब कि दोनों प्रकार के व्यवसायों में यह समान रूप से लाभप्रद हो जायगा। इस उदाहरण में केवल दो व्यवसायों को

लिया गया है। वास्तव में व्यवसाय अनेक होते हैं, परन्तु इससे सिद्धान्त में अन्तर नहीं पड़ता है। साधनों के स्वामी अपने साधनों को उसी व्यवसाय में लगायेंगे जिसमें उनको अधिकतम लाभ हो। यदि साधन से एक व्यवसाय की अपेक्षा किसी अन्य व्यवसाय में अधिक लाभ होता हो तो उसकी प्रवृत्ति कम लाभदायक व्यवसाय को छोड़कर अधिक लाभदायक व्यवसाय में जाने की होगी। यह प्रवृत्ति तब तक रहेगी जब तक उस साधन से सभी व्यवसायों में समान लाभ न हो। इसी लाभ-समता के अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक साधनों का भिन्न-भिन्न उद्योग धन्धों में वितरण होता है। इसका संचालन माँग-पूर्ति, कीमत-लागत और लाभ-हानि के आधार पर होता है।

यद्यपि आदर्श परिस्थिति में आर्थिक साधनों का भिन्न-भिन्न उद्योगों में वितरण और इसके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न वस्तुओं का भिन्न-भिन्न मात्राओं में उत्पादन इसी सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिए, परन्तु वास्तविक जगत् में ऐसा नहीं पाया जाता। एक ही प्रकार के साधन की आय भिन्न-भिन्न व्यवसायों में समान नहीं होती है और न ही समानता लाने के लिए कम आय वाले उद्योगों से अधिक आय वाले उद्योगों में साधनों को ले जाने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। ऐसा क्यों होता है? इसके अनेक कारण हैं जिनमें से प्रधान निम्नलिखित हैं।

लाभ-समता सिद्धान्त के अपवाद

पहले तो जैसा कि हमने इसी अध्याय में बतलाया, सभी साधनों के स्वामी केवल मौद्रिक आय से ही प्रभावित नहीं होते हैं। भिन्न-भिन्न व्यवसायों अथवा स्थानों में मौद्रिकेतर उपलब्धियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जो व्यक्ति इन मौद्रिकेतर उपलब्धियों को अधिक महत्व देते हैं वे अपने साधनों को उन्हीं उद्योग धन्धों में लगाये रखते हैं जहाँ उनको ये अधिक मात्रा में प्राप्त हों, यद्यपि अन्य उद्योग धन्धों में लगाने पर उनको अधिक मौद्रिक आय हो सकती है। इस प्रकार एक ही प्रकार के आर्थिक साधन से प्राप्त आय इन मौद्रिकेतर उपलब्धियों के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न उद्योग

घन्नों में भिन्न-भिन्न रहती है। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि कोई अध्यापक कम वेतन में भी अध्यापन का कार्य करता रहता है जब कि उसको क्लर्क में अधिक वेतन मिल सकता है। इसका कारण यह हो सकता है कि अध्यापक को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है वह क्लर्क को नहीं है। प्रतिष्ठा मीडिकेतर उपलब्धि है जिसको कुछ लोग अपना व्यवसाय निर्धारित करने में महत्व देते हैं।

कानपुर का मजदूर अधिक मजदूरी मिलने पर भी अहमदाबाद क्यों नहीं जाता है? क्योंकि वहाँ उसको नये वातावरण में भिन्न भाषा बोलने वाले और भिन्न आचरण, रीति-रिवाज के लोगों के बीच रहना पड़ेगा। अपने भाषा-भाषी आचार-विचार के लोगों के साथ रहने के लिए वह अधिक मजदूरी से आकृष्ट नहीं होता है। केवल मौद्रिक आय ही सब कुछ नहीं है।

एक ही प्रकार के साधन से भिन्न-भिन्न आय प्राप्त होने का एक कारण अज्ञान भी हो सकता है। यह सम्भव है कि साधन के स्वामी को यह मालूम न हो कि अन्य किसी व्यवसाय में उसको अधिक प्राप्ति हो सकती है। अथवा मालूम होने पर भी वह आलस्यवश पुराने व्यवसाय से ही चिपका रहे। स्पष्ट है कि अज्ञान के दूर होने से साधन अधिक आय वाले व्यवसाय की ओर आकृष्ट होगा। फलस्वरूप आय की असमानता कम होने लगेगी।

किसी साधन की असमान आय का एक कारण उसकी इकाई की मात्रा का बड़ा तथा अविभाजनीय होना भी हो सकता है। समानता लाने के लिए यह आवश्यक है कि साधन बहुत छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित हो सके और उसको एक उद्योग अथवा स्थान से दूसरे उद्योग अथवा स्थान में भेजा जा सके। एक मशीन एक इकाई है। सांख्यिकीय दृष्टिकोण से उसके आधे अथवा चौथाई भाग का यद्यपि आय में समानता लाने के लिए उद्योगान्तरण अथवा स्थानान्तरण करना आवश्यक हो परन्तु वास्तव में ऐसा सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कुछ अन्य साधनों की इकाइयाँ भी बहुत

बड़ी होती हैं और उसी मात्रा में बे हटायी भी जा सकती हैं। परन्तु इतनी बड़ी मात्रा में हटाने से उनकी आय में समानता नहीं आ पाती है।

वर्तमान काल में एक ही प्रकार के साधनों की भिन्न-भिन्न आय बने रहने का एक कारण यह भी हो सकता है कि साधनों के एक उद्योग से दूसरे (अधिक आय वाले) उद्योग में प्रवेश करने पर रोक लगा दी गयी हो। यह रोक राज्य द्वारा भी लगायी जा सकती है। परन्तु अधिकतर एकाधिकारी तत्वों के कारण साधनों की अबाध गति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। फलस्वरूप किसी साधन की आय एकाधिकारी उद्योग में तो अधिक रहती है और बाहर के क्षेत्र में कम रहती है। इस परिस्थिति विशेष के कारण आय की असमानता कम नहीं होने पाती।

कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि स्वतन्त्र आर्थिक पद्धति में आर्थिक साधनों के भिन्न-भिन्न उद्योगों में इस प्रकार वितीर्ण होने की प्रवृत्ति रहती है जिससे समान साधनों की एक सी आय हो, परन्तु अनेक बाधाओं के कारण वास्तविक संसार में ऐसा हो नहीं पाता है। इन बाधाओं के कारण साधनों की गतिशीलता में अवरोध हो जाता है जिसके फलस्वरूप आय की असमानता बनी रहती है।

इन सब विघ्न बाधाओं के होते हुए भी पूँजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाएँ चलती रहती हैं और उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न मात्राओं में भिन्न-भिन्न वस्तुओं और सेवाओं को उपलब्ध कराती रहती हैं। इन क्रियाओं के अन्तर्गत प्रधानतया बाजार और मूल्य-शृंखला रहती है। मूल्य-शृंखला से यह तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु तथा सेवा का मूल्य एक-दूसरे से सम्बन्धित रहता है। किसी भी मूल्य में परिवर्तन के कारण आर्थिक प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं और इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पादक और उपभोक्ता अपने-अपने आर्थिक निर्णयों को बदलते रहते हैं और इनमें सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि अनगिनत

उत्पादकों और उपभोक्ताओं की योजनाएँ बिना किसी केन्द्रीय आदेश के सुसम्बद्ध होकर चरितार्थ होती रहती हैं।

पूँजीवाद में असन्तुलन

ऐसी बात नहीं है कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था निर्बाध गति से चलनी रहती है और इसके भिन्न-भिन्न अवयवों में हमेशा सन्तुलन बना रहता है। सबसे पहले यह बात ध्यान में रखने की है कि आर्थिक जगत् परिवर्तनशील है। जनसंख्या में बदलाव, मनुष्यों की रुचि, फैशन इत्यादि में बदलाव, नयी वस्तुओं का प्रादुर्भाव, उत्पादन की नयी विधियाँ, नये बाजार, अनुसंधान, अभिनवीकरण इत्यादि ऐसे तत्व हैं जिनके कारण अर्थतन्त्र असन्तुलित होता रहता है। यद्यपि नया सन्तुलन प्राप्त करने की प्रवृत्ति रहती है तथापि यह शीघ्रता से अथवा सरलता से स्वयमेव उपस्थित नहीं हो जाता है। साम्यावस्था में आने की अवधि में आर्थिक अवयवों में भी परिमार्जन होता रहता है। इसके अतिरिक्त जब कि अर्थ-तन्त्र और उसके अवयव किसी परिवर्तन के फलस्वरूप साम्यावस्था में आने की चेष्टा करते हैं, उस अवधि में कोई दूसरा परिवर्तन हो जाता है। सच बात तो यह है कि अर्थ-तन्त्र में पूर्ण रूप से साम्यावस्था आती ही नहीं है। ऐसी अवस्था केवल अपरिवर्तनशील आर्थिक जगत् में ही प्राप्त हो सकती है।

दूसरी बात यह है कि सामञ्जस्य और सन्तुलन लाने की क्रियाओं में अनेक व्यवधान पड़ जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी देश की जनसंख्या में वृद्धि हो गयी हो और अन्य सब बातें वैसी ही हों तो पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करने के लिए मजदूरी में कमी करनी पड़ेगी। अब यदि मजदूर लोग अपने संघ द्वारा अथवा राज्य मजदूर-नियमों द्वारा मजदूरी कम न होने दें तो सभी मजदूरों को रोजगार न मिल सकेगा। फलस्वरूप अर्थतन्त्र में अव्यवस्था हो सकती है। इसी प्रकार एकाधिकारी अथवा अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के तत्वों के आविर्भाव से भी व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। आर्थिक साधनों में गतिरोध के कारण भी सामञ्जस्य और साम्यावस्था लाने में कठिनाई हो जाती है।

इन्हीं सब कारणों से पूँजीवादी अर्थ-पद्धति में बीच-बीच में ऐसा लगता है कि अर्थ-तन्त्र में गड़बड़ी आ गयी है। कभी-कभी कुछ वस्तुओं का उत्पादन इतना बढ़ जाता है कि वे वस्तुएँ लाभप्रद मूल्यों पर बिक नहीं पातीं। इससे न केवल उत्पादकों को हानि होती है परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से साधनों का भी दुरुपयोग होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आर्थिक साधन बड़ी मात्रा में बेकार पड़े रहते हैं। परिवर्तनशील जगत् में यह बात तो समझ में आती है कि थोड़ी बहुत बेकारी होती ही है। परन्तु जब बेकारी भयंकर रूप धारण कर लेती है, जैसा कि १९२९-३३ की विश्वव्यापी मन्दी के अवसर पर हुआ था, तब आर्थिक क्षेत्र की बहुत हानि हो जाती है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि एक ओर तो लोगों को अन्न, वस्त्र इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो रही हैं और दूसरी ओर जिन साधनों से इन वस्तुओं का निर्माण हो सकता है वे बेकार पड़े हैं। स्वतन्त्र अर्थ-पद्धति पर सबसे बड़ा लांछन यही है कि उसकी प्रगति में बीच-बीच में इस प्रकार के संकट आते रहते हैं। यह शायद आर्थिक स्वतन्त्रता का मूल्य है जो कि चुकाना ही पड़ता है।

अभी तक हम इस महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न पर विचार कर रहे थे कि स्वतन्त्र अर्थ-पद्धति में आर्थिक साधनों का भिन्न-भिन्न व्यवसायों में किस प्रकार वितरण होता है, जिसके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न मात्राओं में भिन्न-भिन्न वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है। हमने देखा कि इस पद्धति के शुद्ध स्वरूप के अन्तर्गत उपभोक्ता और उत्पादकों के अपनी-अपनी योजना के सम्मिश्रण, संघात और सामञ्जस्य के फल स्वरूप साधनों के क्षेत्र निर्धारित होते रहते हैं। इस कार्य में मूल्य और बाजार का विशेष प्रभाव पड़ता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इन्हीं के द्वारा भिन्न-भिन्न योजनाएँ शृंखलाबद्ध होकर पूँजीवादी अर्थ-पद्धति को उसका आकार देती हैं और अपना अपना स्थान भी प्राप्त करती हैं।

साधनों का अनुपात

एक दूसरा संलग्न प्रश्न यह है कि कोई भी उद्योगपति इस बात का

कैसे निश्चय करता है कि वह अपने उद्योग से किस अनुपात से भिन्न-भिन्न साधनों को लगाये। हम पिछले एक अध्याय में बतला आये हैं कि उत्पादन के लिए अनेक साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु किन-किन साधनों का किस-किस मात्रा में उपयोग किया जाय इसका निश्चय बहुत अंश में उत्पादक पर ही निर्भर रहता है। कभी-कभी तकनीकी कारणों से कुछ साधनों का अनुपात निर्धारित हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि एक मशीन के पीछे एक मजदूर लगाना आवश्यक है तो जितनी मशीनों से काम लिया जायगा उतने मजदूरों की भी आवश्यकता अवश्य ही होगी। परन्तु कुछ अंश में उत्पादक को साधनों के अनुपात निश्चित करने में स्वतन्त्रता रहती है। अभिप्राय यह है कि किसी भी वस्तु का किसी परिमाण विशेष में उत्पादन करने के लिए आर्थिक साधनों का भिन्न-भिन्न अनुपात हो सकता है, अर्थात् साधन एक-दूसरे का स्थान ग्रहण कर सकते हैं। यह स्थानापन्नता अधिकांश में सीमांत पर ही होती है। उदाहरण के लिए किसी उत्पादक के सामने प्रायः इस प्रकार की समस्या नहीं आती है कि किसी वस्तु का किसी मात्रा में उत्पादन केवल श्रम अथवा केवल उपकरणों (पूँजी) द्वारा ही किया जाय। श्रम और पूँजी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों की आवश्यकता रहती ही है। परन्तु इस प्रकार की समस्या अवश्य आती है कि वह उपकरणों में कुछ कमी करके मजदूरों की संख्या में वृद्धि कर ले अथवा मजदूरों की संख्या में कमी करके उपकरणों की मात्रा में वृद्धि कर ले। अर्थात् उपकरण और श्रम पूर्ण रूप से एक-दूसरे की स्थानापन्नता नहीं कर सकते हैं परन्तु कुछ अंश में तो कर ही सकते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए किसी सूती-वस्त्र का उत्पादक एक हजार गज कपड़ा निम्नलिखित श्रम और उपकरणों के अनुपात से उत्पन्न कर सकता है (अन्य साधन, जैसे कच्चा माल, निर्धारित मात्रा में लगाये जाते हैं) —

उपकरण

श्रम

१० इकाइयाँ

२५ इकाइयाँ

उपकरण
९ इकाइयाँ

श्रम
२७ इकाइयाँ

इस सारणी से पता चलता है कि इस उत्पादन क्रिया में एक उपकरण और दो मजदूरों की स्थानापन्नता हो सकती है। उत्पादक के समक्ष यह प्रश्न है कि वह उपकरण और श्रम के किस अनुपात को स्वीकार करे। यह तो मानी हुई बात है कि कोई उत्पादक किसी भी वस्तु के किसी परिमाण को इस प्रकार उत्पन्न करने की चेष्टा करेगा जिससे उसका लागत-व्यय न्यूनतम हो। वर्तमान उदाहरण में भी उत्पादक यही जानने का प्रयत्न करेगा कि श्रम और उपकरण के किस अनुपात में उसका लागत-व्यय न्यूनतम होगा। यदि दो मजदूरों की मजदूरी उपकरण की एक इकाई पर किये गये व्यय से अधिक हो तो स्पष्ट है कि उसको १० उपकरण और २५ मजदूरों के बदले ९ उपकरण और २७ मजदूर लगाने से लागत-व्यय कम होगा (यहाँ पर यह मान लिया गया है कि इस उत्पादक के मजदूरों और उपकरणों की माँग में परिवर्तन के फलस्वरूप उनके मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं होगा)। इसी प्रकार यदि यह उत्पादक कपड़े का उत्पादन १००० गज से बढ़ा कर १५०० गज करना चाहता है तो उसको यह मालूम करना पड़ेगा कि सम्भावित श्रम और उपकरणों का कौन-सा अनुपात न्यूनतम लागत-व्यय वाला होगा। यदि साधनों के मूल्यों में बदलाव हो जाता है तो उत्पादक को भी साधनों के अनुपात में बदलाव करना पड़ेगा। यदि श्रम सस्ता हो जाता है तो यह उत्पादक के हित में होगा कि वह सम्भावना के अन्तर्गत उपकरणों के स्थान पर श्रम का प्रति-स्थापन करे।

सीमान्त-प्रतिस्थापना सिद्धान्त

उत्पादन का यह सीमान्त-प्रतिस्थापना सिद्धान्त बहुत महत्व का है। इस सिद्धान्त को इस प्रकार भी समझाया जा सकता है। एक साधन की

दूसरे साधन से तब तक प्रतिस्थापना होती रहेगी जब तक कि उनके सीमान्त उत्पादन और लागत-व्यय के अनुपात में वैषम्य रहता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए “क” और “ख” दो साधन हैं जिन का उपयोग किसी वस्तु के उत्पादन में हो रहा है। यदि अन्य सब बातें समान हों और “क” साधन की एक इकाई की वृद्धि की जाय तो कुल उत्पादन की मात्रा में ६ इकाई की वृद्धि होती है, अर्थात् ६ इकाई सीमान्त उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार यदि “ख” साधन की एक इकाई की वृद्धि की जाती है तो कुल उत्पादन की मात्रा में १० इकाई की वृद्धि होती है, अर्थात् इस साधन की सीमान्त-उत्पत्ति १० इकाई है। मान लीजिए “क” की एक इकाई पर लागत-व्यय २ रुपया है और “ख” की एक इकाई पर लागत-व्यय ५ रुपया है। अब हम देखते हैं कि “क” साधन की एक इकाई में वृद्धि करने के फलस्वरूप २ रुपया लागत-व्यय में और ६ इकाई उत्पादन में वृद्धि होती है। इसका अनुपात $२/६$ हुआ। इसी प्रकार “ख” साधन की एक इकाई की वृद्धि करने से ५ रुपया लागत-व्यय में और १० इकाई उत्पादन में वृद्धि होती है। इसका अनुपात $५/१०$ हुआ। इन दोनों अनुपातों में वैषम्य है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि अन्य सब बातें समान हों तो “क” साधन की एक इकाई बढ़ाने से सीमान्त उत्पत्ति (६ इकाई) की प्रति इकाई पर लगभग ३३ नये पैसे लागत-व्यय होता है और “ख” साधन की एक इकाई बढ़ाने से सीमान्त उत्पत्ति (१० इकाई) की प्रति इकाई पर ५० नये पैसे लागत-व्यय होता है। अर्थात् “क” साधन “ख” साधन की अपेक्षा कम खर्चीला है। अतएव उत्पादक “क” साधन का अधिक उपयोग करेंगे। यदि दोनों साधनों के मूल्यों और सीमान्त उत्पत्ति का अनुपात समान हो तो उत्पादक दोनों में से किसी भी साधन का उपयोग कर सकता है अर्थात् दोनों साधनों में उसकी स्थिति तटस्थता की रहती है। जब तक इन अनुपातों में वैषम्य है, उत्पादक एक साधन की अपेक्षा दूसरे साधन (कम खर्चीले) का प्रयोग करेगा।

साम्यावस्था में उत्पादक निम्नलिखित समीकरण की अवस्था में होगा—

“क” पर प्रति इकाई व्यय “ख” पर प्रति इकाई व्यय

“क” द्वारा सीमान्त उत्पत्ति “ख” द्वारा सीमान्त उत्पत्ति

इस समीकरण का तात्पर्य यह है कि कोई भी उत्पादक उत्पत्ति के साधनों का अनुपात इस प्रकार करने की चेष्टा करेगा जिससे प्रत्येक साधन की इकाई पर व्यय और उससे सम्बन्धित सीमान्त उत्पत्ति की इकाइयों का अनुपात समान हो। यदि ऐसा नहीं है तो अभिप्राय यह हुआ कि उत्पादक न्यूनतम लागत-व्यय पर उत्पत्ति नहीं कर रहा है। उसका हित इसमें है कि वह साधनों के अनुपात में ऊपर दिये गये समीकरण के अनुसार बदलाव करे।

वास्तविक जगत् में इस आदर्श का पूर्ण रूप से पालन नहीं हो सकता है। पहले तो इस बात का पता लगाना ही एक कठिन कार्य है कि किस साधन से कितनी सीमान्त उत्पत्ति होती है। कोई भी उत्पादक शायद ही इस प्रकार का प्रयोग करता हो कि वह अन्य साधनों की मात्रा को समान रखकर केवल एक साधन में एक इकाई की वृद्धि करके उसके प्रतिफलों की उस पर किये गये व्यय से तुलना करे। इसके अतिरिक्त कुछ साधन ऐसे होते हैं जिनका प्रयोग बहुत छोटी-छोटी मात्राओं में सम्भव नहीं होता है। इस कारण से भी समीकरण के अनुसार पूर्ण रूप से साधनों का अनुपात नहीं हो पाता है। अज्ञान तथा आलस्य के कारण भी किसी उत्पादक के साधनों के संमिश्रण में त्रुटि हो सकती है।

इस प्रकार की बाधाओं के होते हुए भी हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था में इस प्रकार की विधि उपलब्ध है जिससे उत्पादक को यह निश्चय करने में सहायता मिलती है कि वह उत्पादन कार्य में किन-किन साधनों का किन-किन मात्राओं में प्रयोग करे। यह किसी अधिकारी के निर्देशन से नहीं परन्तु बाजार और मूल्यों के आधार पर होता है।

स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में वितरण

किसी भी अर्थ-व्यवस्था में एक प्रधान समस्या उत्पादित वस्तुओं के वितरण की होती है। उत्पत्ति अनेक साधनों के सहयोग से होती है अतएव उनमें विभाजित होती है। प्रश्न यह है कि किस साधन को कितना मिलना चाहिए। सीधा उत्तर यह है कि उत्पत्ति में जिसका जितना योग रहा हो उसी हिसाब से उसको मिलना चाहिए। यह उत्तर देखने में तो सरल लगता है परन्तु इसको कार्य रूप में परिणत करना बहुत कठिन कार्य है।

द्रव्य का प्रयोग करनेवाली अर्थ-व्यवस्था में कुछ आय द्रव्य के रूप में ही प्रकट की जाती है और द्रव्य के रूप में ही भूमिपति को लगान के नाम से, मजदूरों को वेतन तथा मजदूरी के नाम से, पूंजीपति को ब्याज के नाम से और उद्योगपति को लाभ के नाम से दी जाती है। यदि किसी उद्योग की वार्षिक कुल आय एक लाख रुपया हो तो यह ऊपर दिये गये भिन्न-भिन्न विभागों में बाँट जायगी। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय के भी यही विभाग किये जा सकते हैं।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक साधनपति इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि वह अपने साधन को चाहे जिस किसी उद्योग में लगाये। इसी प्रकार उद्योगपति को भी स्वतन्त्रता है कि वह अपने उद्योग में किस साधन को किस मात्रा में लगाये। इन स्वतन्त्रताओं के फलस्वरूप साधनों तथा उनसे प्राप्त सेवाओं का मूल्य निर्धारित हो जाता है। जिस साधन का जो मूल्य हो वही उसकी आय है। यदि किसी प्रकार के मजदूर की सेवा का मूल्य दो रुपया प्रति दिन निर्धारित होता है तो उस मजदूर की आय दो रुपया प्रति दिन हुई। इसी प्रकार यदि किसी विशेष प्रकार की भूमि का लगान २५ रुपया प्रति एकड़ निर्धारित होता है तो वही भूमिपति की आय हुई, इत्यादि।

प्रत्येक साधन की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनका प्रभाव

उनके मूल्य के निर्धारण में भी पड़ता है। अर्थ-शास्त्र की पुस्तकों में हमको प्रत्येक साधन के मूल्य निर्धारण के अनेक सिद्धान्त मिलते हैं जो भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादित किये गये हैं। यहाँ पर हमको इतने विस्तार में जाने का प्रयोजन नहीं है। इस प्रकरण में हमको इतना ही कहना है कि स्वतन्त्र अर्थ-पद्धति की आदर्श अवस्था में प्रत्येक साधन (अथवा साधनपति) को पूर्ण आय में से उतना भाग मिलने की प्रवृत्ति होगी जितनी वृद्धि वह अपने साधन द्वारा कुल आय में करता है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में किसी भी साधन को प्रत्येक उद्योग में समान आय मिलेगी। यदि ऐसा नहीं होता है तो साधन, जिस उद्योग में कम आय है उसको छोड़कर जिस उद्योग में अधिक आय है वहाँ जाने लगेगा। फलस्वरूप जिस उद्योग में अधिक साधन जाने लगते हैं वहाँ उनकी आय में कमी और जहाँ से जाते हैं वहाँ उनकी आय में वृद्धि होने की प्रवृत्ति होगी और अन्ततोगत्वा यह आय सभी उद्योगों में समान हो जायगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवाद में वितरण की समस्या का समाधान भी बाजार और मूल्यों पर ही निर्भर रहता है। किस साधन को कितनी प्राप्ति होगी इसका निश्चित निर्णय किसी अधिकारी के निर्देशन से नहीं होता है। साधारणतया हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर रहता है उसी प्रकार किसी साधन का मूल्य (आय) उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर रहता है। उत्पादक साधनों की माँग करते हैं क्योंकि इन साधनों से ही वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं का निर्माण कर सकते हैं। स्पष्ट है कि इन वस्तुओं की माँग में परिवर्तन के फलस्वरूप साधनों की माँग में भी परिवर्तन हो जाता है अर्थात् साधनों की माँग उनसे निर्मित वस्तुओं की माँग पर आधारित रहती है। साधनों के स्वामी उनकी पूर्ति प्रस्तुत करते हैं। भिन्न-भिन्न मूल्यों पर माँग और पूर्ति की मात्रा भी भिन्न-भिन्न रहती है। जिस मूल्य पर माँग और पूर्ति की मात्रा बराबर होती है वहीं पर उस साधन का मूल्य निर्धारित

होता है। किसी भी साधन की माँग और पूर्ति में बदलाव होता रहता है। अतएव उसके मूल्य में भी बदलाव होता रहता है।

वास्तविक जंगत् में हम देखते हैं कि साधनों की आय पूर्णतया इन सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित नहीं होती है। अनेक व्यवधान तथा बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं जिसके कारण साधनों को अपनी उत्पादकता के अनुसार प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार सभी उद्योगों में एक ही प्रकार के साधन को समान आय भी प्राप्त नहीं होती है। प्रतियोगिता भी पूर्ण नहीं होती है और साधनों की गतिशीलता भी अपूर्ण होती है।

इस अध्याय को समाप्त करते हुए हम कह सकते हैं कि पूँजीवाद में आर्थिक स्वतन्त्रता और उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं की अपनी अलग-अलग योजनाओं के होते हुए भी सारी पद्धति की अपनी एक विधि और मर्यादा है जिसके अन्तर्गत आर्थिक साधन भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धों में लगे रहते हैं और जो आय वे उत्पन्न करते हैं वह भिन्न-भिन्न साधनों के स्वामियों में विभाजित होती रहती है।

अध्याय ७

पूँजीवाद का मूल्यांकन

मूल्यांकन की कठिनायें

पिछले अध्याय में यह बतलाया गया था कि पूँजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाएँ किस प्रकार सम्पादित होती हैं। इस अध्याय में इस अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन किया जायगा। किसी भी अर्थ-व्यवस्था के मूल्यांकन में एक कठिनायें यह होती है कि जिन आधारों पर उसके गुण दोषों पर विचार किया जाता है वे कहाँ तक उस व्यवस्था से सीधे संलग्न हैं। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की आर्थिक समृद्धि का मुख्य कारण स्वतन्त्र आर्थिक पद्धति अर्थात् पूँजीवाद है। ऐसा भी हो सकता है कि इस समृद्धि का कारण पूँजीवाद न होकर उस देश का विशाल, कम आबादी का क्षेत्र और उसके सम्पन्न प्राकृतिक साधन हैं, अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि उस देश में प्राप्त आर्थिक वातावरण में ही पूँजीवाद की सफलता पराकाष्ठा तक पहुँच सकती है। इस सफलता में कितना श्रेय पूँजीवाद को प्राप्त है और कितना वातावरण को यह निश्चय करना असम्भव सा ही है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि रूस में समाजवाद सफल समझा जाता है। अब यह बतलाना कठिन है कि कहाँ तक यह सफलता रूस में प्राप्त विशेष वातावरण के कारण है और कहाँ तक समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के कारण।

मूल्यांकन में दूसरी कठिनायें यह है कि किन आधारों पर मूल्यांकन किया जाय। यदि किसी देश में भौतिक उन्नति बहुत हुई है परन्तु

आध्यात्मिक और नैतिक स्तर में बहुत गिरावट आ गयी है तो कुल क्या प्रतिफल रहा ? हो सकता है कि किसी समाज के दृष्टिकोण से इसको सफलता समझा जाय, परन्तु दूसरे समाज के दृष्टिकोण से इसको पतन समझा जाय। इसी प्रकार यदि किसी देश की अर्थ-व्यवस्था के फलस्वरूप धन-सम्पत्ति में तो बहुत वृद्धि हुई हो परन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन हुआ हो तो कुल उपलब्धि क्या हुई ? इस प्रकार की समस्याएँ मूल्यांकन करने में सामने आती हैं। आर्थिक और अनार्थिक विषय एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि इनको अलग करते नहीं बनता है।

कुछ देशों में मूल्यांकन की एक और कठिनाई आँकड़ों की है। जब तक सही और पूर्ण आँकड़े प्राप्त न हों किसी प्रकार का मूल्यांकन नहीं हो सकता है। यदि हम कहें कि किसी अर्थ-व्यवस्था की सफलता का एक माप उत्पत्ति की मात्रा है, तो यदि हमको कुल उत्पत्ति के आँकड़े प्राप्त न हों तो मूल्यांकन किस प्रकार हो सकता है। बहुत से ऐसे देश हैं जहाँ आँकड़े एकत्रित किये ही नहीं जाते और बहुत से ऐसे देश हैं जहाँ आँकड़े प्राप्त तो हैं परन्तु वे बहुत अपर्याप्त और संदिग्ध अवस्था में हैं। बहुत थोड़े ऐसे देश हैं जहाँ पर्याप्त मात्रा में विश्वसनीय आँकड़े प्राप्त हैं। वर्तमान काल में इस विषय पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है और यह कार्य राज्य स्तर पर होने लगा है।

इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी भिन्न-भिन्न आर्थिक पद्धतियों के गुण-दोषों के बारे में लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। इस अध्याय में हम पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के गुण-दोषों के बारे में लिखेंगे। इस विषय पर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये गये हैं। यदि कुछ लेखकों ने इसकी स्तुति कर इसको आकाश पर चढ़ा दिया है तो दूसरे लेखकों ने इसकी अत्यन्त निन्दा कर इसको पाताल के गर्त में डाल दिया है। इस प्रकार के विषयों पर मध्यम मार्ग सबसे उचित प्रतीत होता है। अच्छाइयाँ और बुराइयाँ सभी पद्धतियों में होती हैं। मूल्यांकन में दोनों पर विचार करना होता है।

यद्यपि पूँजीवादी पद्धति कुछ अंश में अनेक देशों में पायी जाती है परन्तु इसका रूप पश्चिम के कुछ देशों में, जैसे इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि में ही निखरा है। इन देशों में कुछ शताब्दियों से इस पद्धति का विकास हुआ है और अपनी चरम सीमा तक पहुँचा है। अतएव इन्हीं देशों के सन्दर्भ में पूँजीवाद के गुण-दोषों की विवेचना की जायगी।

पूँजीवाद की उपलब्धियाँ

पूँजीवाद की एक प्रमुख उपलब्धि यह बतलायी जाती है कि जिन देशों में इसका विकास हुआ उनमें वेग से आर्थिक प्रगति हुई। धन-सम्पत्ति में वृद्धि हुई और लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा हुआ। इसका प्रधान कारण यह बतलाया जाता है कि आर्थिक स्वतन्त्रता और निजी सम्पत्ति के वातावरण में आर्थिक क्रिया में स्फूर्ति, उत्साह और प्रेरणा रहती है जिसके फलस्वरूप अनुसन्धान, अभिनवीकरण, नये प्रयोग और नयी कार्यविधि को प्रोत्साहन मिलता है। पूँजीकरण में वृद्धि होती है। इस युग में हम देखते हैं कि नये यंत्र, मशीन इत्यादि और नयी शक्ति वाष्प, विद्युत् इत्यादि का आविष्कार हुआ। रेल, जहाज इत्यादि द्वारा व्यापार का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। देशीय तथा अन्तर्देशीय विशिष्टीकरण में वृद्धि हुई। तकनीकी ज्ञान और उसका प्रयोग उत्पादन कार्य में होने लगा जिसके फलस्वरूप उत्पादन शक्ति में बहुत वृद्धि हुई। इस उत्पादन शक्ति का प्रयोग सभी आर्थिक क्षेत्रों में हुआ जिसके परिणामस्वरूप उत्पत्ति और उपभोग में प्रचुरता से वृद्धि हुई।

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता है कि इस आर्थिक प्रगति का सारा श्रेय पूँजीवादी पद्धति को ही प्राप्त है। इस अवधि में प्रगतिशील देशों में कुछ ऐसे व्यक्ति और कुटुम्ब हो गये हैं जिन्होंने उत्साह और साहस द्वारा ऐसे क्षेत्रों में प्रवेश किया जिनमें अत्यन्त जोखिम और खतरा था और उनमें विजय प्राप्त की। पूँजीवाद की संस्थाओं और मान्यताओं से अ

इनको सहायता मिली। बड़ी मात्रा में पूँजी का संचय, बड़े-बड़े कारखाने, उद्योग-धन्धे, बड़ी मात्रा में उत्पत्ति, बड़ी मात्रा में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि का श्रेय इन्हीं साहसी व्यक्तियों और फर्मों को प्राप्त है। राज्य की विशेष सहायता के बिना भी देश की चतुर्मुखी आर्थिक प्रगति करना एक महत्वपूर्ण कार्य है।

इस आर्थिक समृद्धि से देश के सभी वर्गों का हित हुआ। सभी को उपभोग की वस्तुएँ अधिक मात्रा में उपलब्ध हुईं और सभी का जीवन-स्तर बढ़ा। यह ठीक है कि सभी वर्गों के जीवन स्तर में समान रूप में वृद्धि नहीं हुई। सम्पत्ति का एकीकरण भी हुआ और एक वर्ग विशेष अर्थात् पूँजीपति को उत्पत्ति का एक बड़ा भाग प्राप्त हुआ और दूसरे वर्ग अर्थात् मजदूरों के हिस्से में कम पड़ा। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि निम्न वर्गों को कुछ प्राप्ति नहीं हुई। हम देखते हैं कि इन विकसित देशों में मजदूर लोग भी अच्छा खाते और पहनते हैं और इनको कुछ अंश में आराम और विलास की वस्तुएँ भी प्राप्त हैं।

प्रगति में अवरोध.

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह आर्थिक प्रगति बिना किसी रुकावट अथवा विघ्न बाधाओं के सम्पन्न हुई है। आर्थिक इतिहास बतलाता है कि प्रगति के बीच-बीच अवधोगति भी हुई है। मन्दी और अपकर्ष के अवसर भी आये हैं जब कि अर्थ-व्यवस्था अव्यवस्थित हो गयी, उत्पत्ति की मात्रा गिर गयी, आर्थिक साधन बड़ी मात्रा में बेकार पड़ गये और जीवन स्तर में भी कमी आ गयी। अर्थात् सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाएँ निम्न स्तर पर सम्पादित होने लगीं। परन्तु सौभाग्य से शीघ्र ही अर्थ-तन्त्र इस गर्त से निकलकर प्रगति के पथ पर चल पड़ता है। कुछ अर्थशास्त्रियों की यह धारणा है कि इस प्रकार का आर्थिक चक्र अर्थात् तेजी और मन्दी, उत्कर्ष और अपकर्ष पूँजीवादी पद्धति में सन्निहित हैं। इसकी रोक-थाम के लिए विशेष उपाय करने पड़ते हैं। इस गहन विषय पर आगे हम अधिक प्रकाश डालेंगे।

उपभोक्ता की प्रभुता

स्वतन्त्र अर्थ-पद्धति की संस्तुति में कहा जाता है कि इसके अन्तर्गत उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किया जाता है जिनकी आवश्यकता उपभोक्ताओं को रहती है। उपभोक्ताओं की माँग ही यह निश्चय करती है कि आर्थिक साधनों का प्रयोग किन उद्योग-धन्धों में हो और कौन-कौन सी वस्तुएँ किस-किस मात्रा में उत्पन्न की जायँ। उपभोक्ता अपनी माँगों की सूचना बाजार और मूल्यों द्वारा उत्पादकों को देते हैं जिसके अनुसार वे अपनी योजनाएँ बनाते हैं और उनको कार्यान्वित करते हैं। उपभोक्ता अपनी माँगों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र हैं अर्थात् वे अपनी आय को अपनी इच्छानुसार व्यय कर सकते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद में कोई वस्तु उपभोक्ताओं पर लादी नहीं जाती।

इस तर्क में कुछ सार अवश्य है कि आर्थिक साधनों का प्रयोग स्वतन्त्र अर्थ-पद्धति में कुछ अंश में उपभोक्ताओं की इच्छानुसार होता है। अन्ततोगत्वा किसी भी उत्पादन क्रिया का, चाहे वह साधारण हो अथवा गहन, चरम उद्देश्य उपभोग की वस्तुओं का निर्माण है। यदि उपभोक्ता इन वस्तुओं को न खरीदें अथवा उतनी मात्रा में न खरीदें जितनी मात्रा में वे उत्पन्न की गयी हैं तो उत्पादकों को हानि होने लगेगी और उन वस्तुओं का उत्पादन बन्द अथवा कम हो जायगा। यदि उपभोक्ताओं की माँग किसी वस्तु विशेष के लिए बढ़ जाती है तो उसका उत्पादन अधिक लाभप्रद होने लगता है और उस उद्योग की ओर अधिक आर्थिक साधन भी आकर्षित होते हैं। इसके विपरीत जिस वस्तु की माँग में कमी आ जाती है उसका उत्पादन कम लाभप्रद हो जाता है और वह उद्योग संकुचित होने लगता है। इस प्रकार कहा जाता है कि पूँजीवाद में उपभोक्ता की प्रभुता होती है और उत्पादकों का हित भी इसी में है कि वे उपभोक्ताओं की माँग के अनुसार उत्पादन करें।

यदि हम इस विषय की गहराई में जायँ तो मालूम होता है कि “उपभोक्ता की प्रभुता” में अधिक महत्व नहीं दिखाई देता है। पहली

बात तो यह है कि पूँजीवादी पद्धति के अन्तर्गत जिन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन होता है वह उन्हीं उपभोक्ताओं द्वारा प्रभावित होता है जिनके पास खर्च करने के लिए रुपये-पैसे हों। अर्थात् जिन लोगों के पास अधिक रुपया होता है उनका उत्पादन में अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि आय का वितरण समान होता अथवा उसमें अधिक असमानता न होती तो विभिन्न वर्गों का प्रभाव भी समान ही होता। परन्तु जैसा हम आगे कहेंगे पूँजीवाद में आय में बहुत असमानता होती है। अतएव वस्तुओं का उत्पादन उपभोक्ताओं की उन्हीं आवश्यकताओं के अनुसार होता है जिन पर वे द्रव्य खर्च कर सकते हैं और उन्हीं का उत्पादन उत्पादकों को लाभप्रद हो सकता है। परन्तु अनेक ऐसे भी उपभोक्ता होते हैं जिनके पास जीवन निर्वाह की वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए भी पर्याप्त आय नहीं होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूँजीवाद में आर्थिक साधनों का प्रयोग उन्हीं वस्तुओं के निर्माण में होता है जिनसे उत्पादकों को लाभ हो। यह आवश्यक नहीं है कि सामाजिक दृष्टिकोण से ये वस्तुएँ अधिकतम कल्याणकारी ही हों। हो सकता है कि यदि कुछ विलासिता तथा आराम की वस्तुओं के उत्पादन में कमी करके जीवन निर्वाह की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि कर दी जाय तो इससे समाज का अधिक हित होगा। परन्तु पूँजीपति ऐसा क्यों करने लगे।

उपभोक्ताओं की सीमित स्वतन्त्रता

ऐसा भी देखा जाता है कि अनेक ऐसी वस्तुओं का उत्पादन भी होता है जिनके बारे में उपभोक्ता कुछ जानते ही नहीं हैं। इन वस्तुओं का विक्रय विज्ञापन इत्यादि की सहायता से होता है। उत्पादक लोग नयी नयी वस्तुओं का निर्माण इस आशा पर करते रहते हैं कि वे किसी न किसी प्रकार उनको बेच ही लेंगे और इस काम में उनको सफलता भी मिलती है। उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता बहुत सीमित होती है। वे उन्हीं वस्तुओं में चुनाव कर सकते हैं जो बाजार हैं उपस्थित रहती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कौन सी वस्तुओं का उत्पादन किया जाय इसमें उत्पादकों का ही अधिक हाथ होता है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि पूँजीवाद में वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपभोक्ताओं की इच्छानुसार ही निर्मित की जाती हैं तो इस पर एक शंका इस प्रकार की भी उठती है कि क्या उपभोक्ताओं को इस सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए ? क्या सभी उपभोक्ताओं को अच्छी बुरी वस्तुओं का ज्ञान रहता है ? क्या उनके उपभोग पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध कुछ अवस्थाओं में वाञ्छनीय हो सकता है ? कुछ लोगों का यह मत है कि सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोण से नशीली तथा इस प्रकार की वस्तुओं के उपभोग पर प्रतिबन्ध रहना ही चाहिए। यह राज्य का कर्तव्य समझा जाता है कि वह इस प्रकार की वस्तुओं के निर्माण पर कर इत्यादि द्वारा नियमन करे; और जो वस्तुएँ जनहित में हों उनके उत्पादन को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित करे अथवा उनका निर्माण सार्वजनिक क्षेत्र में करे।

पूँजीवाद में कार्य-कुशलता

पूँजीवाद की एक विशेषता यह भी बतलायी जाती है कि इसमें प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप केवल कार्य-कुशल उत्पादक ही उत्पादन क्षेत्र में रह पाते हैं। इसके अंतर्गत न्यूनतम लागतव्यय में वस्तुओं का उत्पादन होता है और उपभोक्ताओं को भी कम से कम मूल्य में ये वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। पूँजीवाद को यह विशेषता अंशतः ही प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि वास्तविक जगत् में पूर्ण रूप में प्रतियोगिता पायी नहीं जाती। अर्थ-तन्त्र में एकाधिकारी तत्वों के समावेश से बहुधा यह उत्पादकों के हित में होता है कि वे उत्पत्ति की मात्रा में कमी करें और उपभोक्ताओं से अधिक कीमत वसूल करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवादी पद्धति के जितने भी गुण बतलाये जाते हैं उनमें कुछ न कुछ अस्वाभाविक ही पाये जाते हैं। अब हम इन अपवादों का और कुछ अन्य अवगुणों का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे।

पूँजीवाद की श्रुतियाँ

जहाँ तक उत्पत्ति में वृद्धि का प्रश्न है, यह ठीक है कि इस पद्धति वाले देशों में उत्पत्ति में काफी वृद्धि हुई है। परन्तु आलोचकों का कहना है कि यह उत्पत्ति सदैव ही अधिकतम नहीं होती है। इसका प्रमाण यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में भी, जहाँ कि पूँजीवाद अपनी पूर्ण विकासावस्था में है, गत द्वितीय महायुद्ध काल में शान्तिकाल की तुलना में उत्पादन बहुत अधिक वृद्धि हुई। युद्ध काल में सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि हो जाती और आर्थिक साधन भी पूर्ण रूप से नियुक्त रहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शान्ति काल में कुछ न कुछ साधन अवश्य ही बेकार पड़े रहते जिसके कारण अधिकतम उत्पादन नहीं हो पाता है और जीवन-स्तर उच्चतम नहीं होता है। पूँजीवादी अर्थ-पद्धति का यह एक अभिशाप कि यह सभी साधनों को निरंतर काम में लगाने में असमर्थ रही है।

आर्थिक चक्र

केवल यही नहीं। इस पद्धति में आर्थिक अस्थिरता भी बड़ी मात्रा पायी गयी है। यदि कुछ समय के लिए साधनों को लगभग पूर्ण रोजगार व अवस्था प्राप्त हो भी गयी तो यह अवस्था टिकाऊ नहीं होने पाती। इस पद्धति के चलन में कुछ इस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं कि बीच बीच में आर्थिक मन्दी की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस मन्दी की अवस्था में उत्पादन का स्तर भी गिर जाता है, आर्थिक साधनों में बेकारी उभरती है और जीवनस्तर में भी गिरावट आ जाती है। पूँजीवाद इतिहास में आर्थिक चक्र एक उल्लेखनीय विषय है। वैसे तो अच्छे और बुरे दिन मनुष्य के आर्थिक जीवन में प्रारम्भ से ही आते जाते रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष पूँजीवाद के अन्तर्गत पाया गया है वह एक विशेष बात है। यद्यपि इस चक्र की कोई निश्चित अवधि नहीं है फिर भी ७ से ११ वर्ष के भीतर सामान्यतया अनेक देशों में इसका पुनरावृत्ति पायी गयी है।

इस प्रकार के आर्थिक चक्रों के अनेक कारण बतलाये जाते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों की धारणा है कि इस प्रकार का चक्र पूँजीवाद में निहित है। उदाहरण के लिए बतलाया जाता है कि १९२९-३३ की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी समाजवादी रूस में नहीं पायी गयी। पूँजीवाद की कुछ अपनी विशेषताएँ, संस्थाएँ और क्रियाएँ हैं जिनके फलस्वरूप अर्थतन्त्र के अवयवों में समय समय पर वैषम्य और असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप आर्थिक अपकर्ष का प्रादुर्भाव हो जाता है। हम यह बतला आये हैं कि पूँजीवाद में सभी उत्पादकों और उपभोक्ताओं की अपनी अपनी योजनाएं होती हैं। इनका एकीकरण प्रत्यक्ष रूप में किसी केन्द्रीय योजना द्वारा नहीं होता है। अप्रत्यक्ष रूप में बाजार और मूल्यों की शृंखला से पूँजीवाद के आर्थिक भवन का निर्माण होता है। परन्तु ये आधार स्थिर नहीं रहते हैं। उत्पादकों को ठीक ठीक पता नहीं रहता है कि कौन उत्पादक किस वस्तु को कितनी मात्रा में उत्पन्न कर रहा है। अतएव भूलें होना स्वाभाविक ही है। यह भूल दोनों दिशाओं में होती है अर्थात् कभी तो वस्तुओं के उत्पादन में इस प्रकार से वृद्धि होने लगती है कि उनको लाभप्रद मूल्यों में बेचा नहीं जा सकता और कभी कभी इस अत्यधिक अलाभप्रद उत्पादन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पादन में इतनी कमी आ जाती है कि आर्थिक साधन बेकार पड़े रहते हैं। इधर कुआ तो उधर खाई। परिवर्तनशील अर्थतन्त्र में मूल्य और लागत-व्यय का सामञ्जस्य भी बनता बिगड़ता रहता है। इससे भी अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त अर्थतन्त्र में द्रव्य के समावेश से भी कभी कभी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। द्रव्य का आर्थिक क्रियाओं से साम्य करना सरल नहीं है। यदि एक ही अधिकारी दोनों का प्रबन्ध और नियोजन करे तो सामञ्जस्य अधिक सुगमता से हो सकता है। परन्तु पूँजीवाद में तो ऐसा नहीं होता है। द्रव्य की सृष्टि और उसका नियमन करने वाली दूसरी ही संस्थाएँ हैं और आर्थिक क्रियाएँ जिनमें द्रव्य का उपयोग होता है अन्य व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा सम्पादित की जाती हैं। अतएव कभी कभी मुद्रा-स्फीति की

अवस्था रहती है तो कभी कभी मुद्रा-संकुचन की। इस प्रकार द्रव्य द्वारा भी विनिमय की आर्थिक पद्धति में अस्थिरता आ जाती है।

पूँजीवादी पद्धति के पक्ष में पहले कहा गया था कि उसके अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन उपभोक्ताओं की आवश्यकतानुसार होता है। वही पर हमने इस कथन के अपवाद भी प्रस्तुत किये थे। यहाँ पर इस सम्बन्ध में एक बात यह कहनी है कि उपभोक्ता सभी प्रकार की आवश्यकताओं को बाजार और मूल्यों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि उपभोक्ताओं को अधिक शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता हो तो इनको मूल्य द्वारा प्रकट करना कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त मूल्यों में केवल लागत-व्यय सम्मिलित रहते हैं जिनका भुगतान उत्पादकों को करना पड़ता है। अनेक वस्तुओं के उत्पादन में कुछ ऐसी भी व्यय की मदें होती हैं जिनका भुगतान उत्पादक को तो नहीं परन्तु समाज को करना पड़ता है। उदाहरण के लिए मादक वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग के फलस्वरूप अनेक दगे फसाद और दुर्घटनाएँ होती हैं। सरकार को अधिक पुलिस इत्यादि का प्रबन्ध करना पड़ता है। कारखाने स्थापित करने से उस क्षेत्र में गंदगी, धुआँ, धूल में वृद्धि होती है जिससे स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी व्यय में वृद्धि होती है। ये व्यय उत्पादक के मत्थे नहीं जाते परन्तु हैं तो व्यय ही। यदि इस प्रकार के सामाजिक व्यय भी उत्पादन व्यय में सम्मिलित कर दिये जाते तो सम्भवतः भिन्न भिन्न वस्तुओं का उत्पादन भिन्न प्रकार का होता।

आय का असमान वितरण

पूँजीवादी प्रथा में एक दोष यह बतलाया जाता है कि इसमें आय का वितरण अत्यन्त असमान हो जाता है और इस असमानता में वृद्धि ही होने की प्रवृत्ति रहती है। आय की असमानता के दो मुख्य कारण होते हैं। एक कारण यह है कि भिन्न भिन्न व्यक्तियों की कार्य करने की शारीरिक और मानसिक शक्ति भिन्न भिन्न होती है अतएव उनकी उपार्जन-शक्ति

भी भिन्न भिन्न होती है। शास्त्रीय और मानसिक शक्ति की भिन्नता का एक कारण तो नैसर्गिक है। इसमें किसी प्रथा को दोष नहीं दिया जा सकता है। परन्तु एक अन्य कारण इनको प्राप्त करने के समान अवसर और साधन का न होना है। धनी व्यक्तियों को अपने बच्चों को अनुकूल शिक्षा देने और उनके स्वास्थ्य की रक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध करने का सुयोग रहता है। अतएव ये बच्चे बड़े होकर ऊँचे ओहदे प्राप्त कर लेते हैं और यह परम्परा साधारणतः चलती रहती है। इसके प्रतिकूल निर्धन व्यक्तियों के बच्चों को इस प्रकार की सुविधा नहीं रहती है। उनमें नैसर्गिक प्रतिभा होते हुए भी शिक्षा के अभाव में उसको प्रस्फुटित होने का अवसर प्राप्त नहीं होता है। फलस्वरूप अधिकांश गरीब बच्चों को कम वेतन वाले रोजगार ही मिल पाते हैं। इस प्रकार धनी धनवान् होते जाते हैं और निर्धन निर्धन ही रह जाते हैं।

आय की असमानता का दूसरा कारण सम्पत्ति के वितरण की असमानता है। पूँजीवाद में निजी सम्पत्ति और उत्तराधिकार का महत्वपूर्ण स्थान है। इस अर्थ-व्यवस्था में समाज दो वर्गों में विभाजित हो जाता है—एक पूँजीपति वर्ग और दूसरा श्रमिक वर्ग। श्रमिक वर्ग के पास अपना श्रम ही केवल साधन रहता है जिसे पूँजीपति के हाथ बेचकर वह मजदूरी प्राप्त करता है। उत्पत्ति के अन्य उपकरण और साधन पूँजीपति ही प्रदान करता है। श्रमिकों की संख्या पूँजीपतियों की संख्या से कहीं अधिक होती है परन्तु आय के वितरण में पूँजीपति को उसका बड़ा भाग मिलता है। इस प्रकार आय और सम्पत्ति और इनसे सम्बन्धित आर्थिक शक्ति का भी समाज के कुछ ही व्यक्तियों के पास केन्द्रीकरण होने लगता है। इस केन्द्रीकरण से भविष्य में भी आय के वितरण में असमानता बनी रहती है। ऐसा समझा जाता है कि पूँजीपतियों को आय का एक बड़ा भाग श्रमिकों के शोषण द्वारा प्राप्त होता है। कार्ल मार्क्स और अन्य समाजवादी लेखकों का कहना है कि श्रमिक अपने श्रम द्वारा जितना उत्पादन करता

है उसका एक छोटा सा भाग ही उसको पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता है। शेष पूँजीपति हड़प कर लेते हैं। इस प्रकार की पूँजीपति की आय को “अतिरिक्त” आय की संज्ञा दी गयी है। इस “अतिरिक्त आय” को मशीन, फैक्टरी इत्यादि अन्य उपकरणों में परिवर्तित कर दिया जाता है और इनके एवं श्रमिकों के सहयोग से नवीन आय उत्पन्न की जाती है, जिसका विभाजन भी पूर्ववत् होता है। यही क्रम चलता रहता है।

वर्तमान आर्थिक उत्पादन इतना गहन और जटिल हो गया है कि यह कहना बहुत कठिन है कि पूर्ण उत्पादित आय में किस साधन की कितनी देन है। परन्तु अनेक कारणों से श्रमिक वर्ग पूँजीपतियों के वर्ग की तुलना में निर्बल पड़ता है। उसकी मोल-भाव करने की शक्ति भी कम ही होती है। अतएव इसकी पूरी सम्भावना है कि श्रमिकों को पूरा पारिश्रमिक नहीं मिल पाता है। क्योंकि संपत्ति की आय पूँजीपतियों को ही प्राप्त होती है, इससे समाज में आय का वितरण और भी असमान हो जाता है।

आय की विषमता का औचित्य

कुछ लोग आय की विषमता को मान्यता देते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक प्रगति के लिए बचत और पूँजीकरण की आवश्यकता होती है। यदि आय का समान रूप से वितरण हो तो इससे बचत करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। यह मानी हुई बात है कि जैसे जैसे आय बढ़ती जाती है वैसे वैसे बढ़ती आय का उत्तरोत्तर बढ़ता भाग बचाया जाता है। कम आय वाले व्यक्ति प्रायः पूरी आय को उपभोग में व्यय कर देते हैं। इस दृष्टिकोण से आय और सम्पत्ति की असमानता का औचित्य मान लिया जाता है। इस तर्क में कुछ सार तो अवश्य है परन्तु इसको इतना महत्व नहीं दिया जा सकता है जितना कि पूँजीवाद के पृष्ठपोषक देते हैं। कम आय वाले व्यक्ति भी कुछ न कुछ बचत करते ही हैं। यह कहना न्यायसंगत नहीं होगा कि यदि उनकी आय में वृद्धि हो जाय तो वे सबकी सब उपभोग में ही व्यय कर देंगे। इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाय कि

आय और सम्पत्ति के वितरण में असमानता कम करने के फलस्वरूप बचत और उसके पूँजीकरण में कुछ कमी आ जायगी, तो भी इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इससे समाज का अकल्याण होगा। पूँजीवादी समाज में ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जिनको अपनी प्राप्त आय द्वारा जीवन निर्वाह की वस्तुएँ तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। वे अपने बच्चों की शिक्षा तथा चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध नहीं कर पाते हैं, जिस कारण न केवल उनकी ही कार्यक्षमता का ह्रास होता है परन्तु आनेवाली पीढ़ी की कार्यक्षमता का भी ह्रास हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि अपनी आय में वृद्धि के फलस्वरूप उपभोग में वृद्धि करके वे अपनी और अपनी सन्तान की कार्यक्षमता में वृद्धि कर सकते हैं तो इससे उनकी उत्पादनशक्ति में वृद्धि होगी और भविष्य में उत्पत्ति की मात्रा में भी वृद्धि होगी। उत्पत्ति में वृद्धि केवल भौतिक उपकरणों पर ही नहीं परन्तु मनुष्यों की कार्यक्षमता पर भी निर्भर रहती है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार में पूँजीवादी अर्थतन्त्र की अस्थिरता का एक कारण आय के वितरण में असमानता भी है। आर्थिक स्थिरता का मुख्य स्तम्भ उपभोग समझा जाता है। यदि आर्थिक प्रगति के साथ साथ आय का वितरण इस प्रकार का होता है कि श्रमिक वर्ग का भाग कम और पूँजीपतियों का अधिक होता है तो इससे उपभोग की क्षति पहुँचती है और बचत को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु इस परिस्थिति में बचत को उत्पादन के कार्य में लगाने की प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि उपभोग की वृद्धि ही उत्पादन का आधार है। यदि उपभोग में क्षति होती है तो बचत का एक बड़ा भाग द्रव्य के रूप में ही बेकार पड़ा रहेगा। फलस्वरूप आर्थिक क्रिया का स्तर गिरने लगेगा।

अनुपार्जित आय

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवाद में आय और सम्पत्ति के असमान वितरण की समस्या बड़े महत्व की है। श्रम और उपार्जित आय

असमानता रहती है। परन्तु जिस असमानता का कारण “अनुपाजित आय” है वह खल जाती है। “अनुपाजित आय” से यह तात्पर्य है कि इसको प्राप्त करनेवाले स्वयं कुछ परिश्रम नहीं करते हैं। भारतवर्ष में जमीन्दारी उन्मूलन के पूर्व जमीन्दार और ताल्लुकेदारों का एक वर्ग था जिसको बिना हाथ पैर हिलाये बड़ी मात्रा में अपनी जमींदारी से आय प्राप्त होती रहती थी। उनके पूर्वजों ने यह सम्पत्ति न्याय तथा अन्याय सभी प्रकार के साधनों द्वारा जोड़ी थी और इस पैतृक सम्पत्ति की आय उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती रहती थी। इस प्रकार उद्योग धन्धों में कल-कारखाने, मशीन इत्यादि में लगी पूँजी से सम्बद्ध आय पूँजीपतियों के उत्तराधिकारियों को मिलती रहती है। समाज में यह बड़े असन्तोष का कारण है।

अपव्यय तथा बरबादी

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एक दोष यह बतलाया जाता है कि इसके अन्तर्गत बहुत प्रकार की बरबादी होती है। एक प्रकार की बरबादी का वर्णन हम पहले ही कर आये हैं। वहाँ पर यह बतलाया गया था कि अनेक अवसरों पर कुछ वस्तुओं का अत्यधिक मात्रा में उत्पादन हो जाता है। इससे आर्थिक साधनों का अपव्यय हो जाता है। इसी प्रकार अनेक उत्पादक उत्पत्ति के उपकरणों की, विशेष कर मशीन इत्यादि अचल उपकरणों की, इतनी बड़ी मात्रा में स्थापना कर लेते हैं कि वे सामान्यतया उनका पूरा उपयोग नहीं कर पाते हैं। इससे भी साधनों का अपव्यय होता है।

एक अन्य प्रकार की बरबादी प्रतिस्पर्द्धात्मक विज्ञापनों द्वारा होती है। कुछ विज्ञापन इस प्रकार के होते हैं जिनसे क्रेताओं के ज्ञान में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए यदि लोगों को साबुन के विज्ञापन द्वारा यह बतलाया जाय कि किस प्रकार उसके उपयोग से सफाई और स्वच्छता रहती है और अनेक प्रकार के रोगों से मुक्ति मिल सकती है, तो इस प्रकार का विज्ञापन समाज के हित में ही होता है। परन्तु बहुत से विज्ञापनों का

मुख्य उद्देश्य अपनी वस्तु के लिए क्रेता प्राप्त करना होता है। साबुन के उदाहरण में हम देखते हैं कि विविध प्रकार के साबुन जो कि रूप-रंग और कुछ अन्य निरर्थक बातों में भिन्न भिन्न दिखलाई पड़ते हैं, एक दूसरे से होड़ करते हैं। इनके उत्पादक विज्ञापनों द्वारा अपने साबुन की प्रशंसा करते हैं जिससे कि साबुन का प्रयोग करनेवाले लोग उनके प्रतिद्वंद्वी उत्पादकों के साबुन के बदले उनके साबुन का प्रयोग करें। जब एक उत्पादक इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धात्मक विज्ञापनबाजी करता है तो अन्य उत्पादक भी ऐसा करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार के विज्ञापनों से आर्थिक साधनों की बरबादी ही नहीं होती परन्तु उपभोक्ताओं को इन वस्तुओं का मूल्य भी उत्पादनमूल्य से कहीं अधिक देना पड़ता है। कहा जाता है कि कुछ वस्तुओं के मूल्यों का आधे से भी अधिक भाग विज्ञापनों तथा अन्य बिक्री सम्बन्धी व्ययों के कारण रहता है।

एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न प्रकार की आकृति इत्यादि देकर उत्पादन करने की प्रथा में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। प्रत्येक घर में इसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। साबुन का उदाहरण हम दे ही चुके हैं। ब्लेड, फाउनटेन पेन, रेडियो, मशीन, साइकिल इत्यादि अनेक वस्तुओं को भिन्न भिन्न स्टाइल, डिजाइन और मॉडलों के रूप में बनाया जाता है। यह भिन्नता कुछ अंश में तो वांछनीय है, परन्तु बहुत अधिक मात्रा में होने से साधनों का अपव्यय होता ही है। यदि किसी वस्तु का थोड़े से रूपों में अधिक संख्या में उत्पादन किया जाय तो उसका प्रति इकाई लागत-व्यय कम होगा और यदि उसी वस्तु का अनेक रूपों में थोड़ी थोड़ी मात्रा में उत्पादन किया जाय तो प्रति इकाई लागत व्यय भी अधिक होगा। पहले प्रकार के उत्पादन में बड़े पैमाने में उत्पत्ति की मितव्ययिता प्राप्त होती है और दूसरे में नहीं होती है।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के इस मूल्यांकन द्वारा इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सा पलड़ा अधिक भारी है। इस पद्धति में जो अच्छाइयाँ बतलायी जाती

हैं उनका समावेश अन्य पद्धतियों में भी किया जा सकता है। इसमें जो बुराईयाँ पायी जाती हैं कुछ अंश में इसी पद्धति के अन्तर्गत उनका निराकरण भी किया जा सकता है। पूँजीवाद को यदि उसके विशुद्ध रूप में उसकी सभी मान्यताओं के साथ कार्यान्वित किया जा सकता तो शायद उसमें इतनी त्रुटियाँ नहीं होतीं। परन्तु कालान्तर में जैसा इसका वास्तविक रूप विकसित हुआ है और इसके अन्तर्गत जिस प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं, उससे तो समाज का विशेष अहित ही होता, यदि राज्य द्वारा इन त्रुटियों की रोकथाम का प्रयत्न न किया जाता। अगले अध्याय में हम यह बतलायेंगे कि आधुनिक काल में पूँजीवाद का वास्तविक स्वरूप कैसा है और उसका कैसे संचालन होता है।

अध्याय ८

पूँजीवाद का वर्तमान स्वरूप

पूँजीवाद का शुद्ध और वास्तविक स्वरूप

वर्तमान काल में पूँजीवादी देशों में ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ पूँजीवादी अर्थ-पद्धति अपने शुद्ध रूप में प्राप्त हो। शायद पहले भी ऐसे कोई देश नहीं थे, परन्तु फिर भी उस काल में वे पूँजीवादी मान्यताओं के अधिक अनुरूप थे। इस समय संयुक्त राज्य अमेरिका एक ऐसा देश है जिसने इस प्रथा के अन्तर्गत बहुत आर्थिक उन्नति की है और जो इस पद्धति का सबसे बड़ा पक्षपाती है। परन्तु इस देश में भी जिस रूप में पूँजीवाद पाया जाता है उसमें और आदर्श पूँजीवाद में बहुत अन्तर है।

स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था को शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों की बड़ी मान्यता इस कारण प्राप्त थी कि इसके अन्तर्गत किसी भी उद्योग में अनेक छोटे छोटे उत्पादकों में कार्यक्षमता की प्रतिस्पर्धा रहेगी, जिसके फलस्वरूप उत्पादकों में कार्यक्षमता की वृद्धि होती रहेगी, लागत-व्यय न्यूनतम होगा और उपभोक्ताओं को भी वस्तुएँ सस्ते मूल्यों पर प्राप्त होंगी। उनके मतानुसार साधारणतः पूर्ण रोजगार की अवस्था रहेगी, क्योंकि यदि किसी साधन की पूर्ति उसकी मांग से अधिक हो तो प्रतिस्पर्धा के कारण उसका मूल्य गिर जायगा और गिरे हुए मूल्य पर उत्पादक उसको काम में लगा लेंगे। उदाहरण के लिए यदि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हो जाय तो उनके पारिश्रमिक में कमी आ जायगी और इस कम पारिश्रमिक पर उत्पादक अधिक श्रमिकों की नियुक्ति कर लेंगे। इसी प्रकार यदि बचत की मात्रा में वृद्धि होती है तो ब्याज की दर गिर जायगी जिससे उत्पादकों को पूँजी के

विनियोग में प्रोत्साहन मिलेगा और बड़ी हुई बचत उत्पादन के कार्य में लगा ली जायगी। यह भी मान लिया जाता था कि अर्थ-तन्त्र के अवयवों में पर्याप्त मात्रा में लोच रहती है और शीघ्रता से सामञ्जस्य हो जाता है।

यदि अर्थ-तन्त्र इस प्रकार कार्य करता रहे तो राज्य के हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यही कारण था कि एडम स्मिथ, रिकार्डो इत्यादि अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक क्रिया में राज्य के कार्यों को बहुत सीमित रखा था। राज्य का प्रधान कार्य बाहरी और भीतरी सुरक्षा का था। इसी कारण इस प्रकार के राज्य को “पुलिस-राज्य” कहा जाने लगा। परन्तु वास्तव में पूँजीवादी अर्थशास्त्र-पद्धति में वे सभी बातें नहीं पायी गयीं जो मान ली गयीं थीं, अथवा कालान्तर में उन मान्यताओं का लोप होने लगा।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा

पहले उत्पादकों को ही लीजिए। केवल कृषि ही ऐसा धन्धा है जिसमें छोटी मात्रा की उत्पत्ति वाले अनेक उत्पादक मिलते हैं। कई देशों में तो कृषकों के पास भी सैकड़ों एकड़ की काश्त होती है और इस धन्धे में भी कृषकों की संख्या कम रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक विकसित देशों में कृषि अब प्रधान उद्योग नहीं रह गया है। शिल्पिक उद्योग-धन्धों में अब बड़ी मात्रा में उत्पादन करने की प्रथा चल पड़ी है और अधिकांश उद्योग बड़ी बड़ी कम्पनियों और कारपोरेशनों द्वारा चलाये जाते हैं जिनमें हजारों मजदूर काम करते हैं। इस प्रकार के उद्योगों में प्रतिस्पर्धा तो रहती है परन्तु यह अपूर्ण रहती है और इसका प्रतिफल ऐसा नहीं होता जैसा कि इस पद्धति के समर्थक समझते थे। बड़े बड़े उत्पादकों के कारण अर्थ-तन्त्र में एकाधिकारी तत्वों का समावेश होने लगा। किसी भी उद्योग में प्रत्येक उत्पादक अपनी निर्मित वस्तु में विभिन्नता लाने की चेष्टा करने लगा और क्रेताओं के मन में इस प्रकार की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न करने लगा

कि उसकी वस्तु अन्य उत्पादकों की वस्तुओं से विशिष्ट है। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादकों का ध्यान अपनी कार्य-क्षमता बढ़ाने और कम लागत पर वस्तुओं का निर्माण करने से हटकर अपनी वस्तु को विशिष्ट बनाने और अपने प्रतिद्वन्द्वियों से ग्राहक छीनने में लगने लगा। इस प्रकार की वस्तुस्थिति में छोटे छोटे अनेक उत्पादकों में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप जो आशा थी वह दुष्प्राप्य हो गयी।

अब साधनों की नियुक्ति का प्रश्न लीजिए। इस क्षेत्र में भी पूँजीवाद के समर्थकों की आशा पूरी नहीं उतरी। अनेक आर्थिक साधनों में बेकारी पायी जाने लगी, और जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया, समय समय पर मन्दी की अवस्था में तो बेकारी की मात्रा बहुत बढ़ जाती थी। श्रमिकों को ही अगर लिया जाय तो ऐसा मालूम पड़ता है कि बेकारी की अवस्था में भी मजदूरसंघ, न्यूनतम मजदूरी कानून इत्यादि के कारण या तो मजदूरी में कमी नहीं होने पाती अथवा इतनी मात्रा में वह नहीं होती कि उत्पादक उनको काम दे सकें। इसके अतिरिक्त जैसा कि इंग्लैंड के एक प्रमुख अर्थ-शास्त्री कीन्स ने सिद्ध किया है, मजदूरी कम करने से ही पूर्ण रोजगारी की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती है। इसी प्रकार बचत और विनियोग की मात्रा भी ब्याज की दर के द्वारा बराबर नहीं होती। यदि बचत में वृद्धि हो जाय और ब्याज की दर में भी कमी आ जाय तो भी यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादक विनियोग की दर में अवश्य वृद्धि कर लेंगे। यदि पूँजी की सीमान्त-क्षमता ब्याज की दर से कम हो तो उत्पादकों में विनियोग की प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी दशा में बचत बेकार पड़ी रहेगी। फ्रान्स के एक प्रमुख अर्थ-शास्त्री जे० बी० से ने बाजार का एक नियम प्रतिपादित किया था कि “पूर्ति अपनी माँग स्वयं उत्पन्न कर लेती है।” उनके मतानुसार ऐसा नहीं हो सकता कि वस्तु और साधन बिना बिके रह जायँ। शास्त्रीय अर्थशास्त्री इस नियम पर पूरी आस्था रखते थे अतएव उनके कल्पित अर्थ-तन्त्र में अत्युत्पादन और साधनों की बेकारी (अल्प-कालिक संघटनात्मक बेकारी को छोड़कर) का कोई स्थान न था। परन्तु

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मिस्टर से का यह नियम प्रत्येक अवस्था में लागू नहीं होता है।

पूँजीवाद के दोषों का निराकरण

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवाद की मान्यताएँ वास्तविक जगत् की आर्थिक क्रियाओं और सम्बन्धों में पूर्णतया नहीं पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त पिछले अध्याय में पूँजीवाद की त्रुटियों का विश्लेषण करते हुए हम उसके अन्तर्गत आय और सम्पत्ति के वितरण में असमानता, आर्थिक अस्थिरता और नाना प्रकार की बरबादियों का वर्णन कर चुके हैं। पूँजीवाद के इन अपवादों और त्रुटियों को देखते हुए प्रश्न यह उठता है कि क्या पूँजीवाद का अन्त कर दिया जाय और उसके स्थान पर किसी दूसरी अर्थ-पद्धति की स्थापना की जाय अथवा मूल रूप में इसी पद्धति को मान्यता देते हुए इसकी त्रुटियों और दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जाय। एक विचारधारा पहले सुझाव के पक्ष में है। उसके अनुसार पूँजीवाद के दिन पूरे हो गये हैं। अब वह अपनी जीर्ण अवस्था पर पहुँच गया है। दवा-दारू और इंजेक्शनों द्वारा उसको जीवित रखने का प्रयत्न अन्ततोगत्वा असफल रहेगा। उसका अन्त होना ही है। अतएव इस दुःखान्त की प्रतीक्षा करने की अपेक्षा पहले ही इस पद्धति को त्याग दिया जाना चाहिए। इस प्रकार का तर्क और सुझाव समाजवादी और साम्यवादी लेखक तथा विचारक प्रस्तुत करते हैं। इसके स्थान पर जिस आर्थिक पद्धति को वे लाना चाहते हैं उसका विस्तृत वर्णन और विश्लेषण हम अगले अध्याय में करेंगे।

दूसरी विचारधारा यह है कि पूँजीवाद की प्रगति में जो विघ्न-बाधाएँ आ गयी हैं और उसमें जो दोष उत्पन्न हो गये हैं उनका विधिपूर्वक अध्ययन करके उनके निराकरण का प्रयत्न करना चाहिए और इस प्रकार पूँजीवाद की रूपरेखा को बनाये रखकर उसको नया स्वरूप और नया मोड़ देना चाहिए। इस प्रकार से पूँजीवाद का नवीनीकरण और परिमार्जन कर

उसको अग्रसर करना चाहिए । पूँजीवाद को यह नया स्वरूप देने में और उसके चलन में उत्पन्न व्यवधानों को दूर करने में राज्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । राज्य के हस्तक्षेप और सहयोग द्वारा ही पूँजीवाद निर्बाध गति से चल सकता है, ऐसा इस विचारधारा के समर्थकों का विश्वास है । पूँजीवाद के जिस वर्तमान स्वरूप का हम वर्णन करने जा रहे हैं उसका निर्माण राज्य के हस्तक्षेप के ही फलस्वरूप संभव है ।

राज्य द्वारा हस्तक्षेप

ऐसा कोई भी समय तथा समाज कभी भी नहीं रहा है जिसकी आर्थिक क्रियाओं में राज्य और शासन का कुछ भी हाथ न हो । पूँजीवाद के अनन्य समर्थक भी यह मानते हैं कि उसके संचालन के लिए एक विशेष प्रकार के आर्थिक वातावरण की आवश्यकता होती है, जिसको राज्य ही उपलब्ध कर सकता है । आक्रमणकारियों से रक्षा, सम्पत्ति की रक्षा, अनुबन्धों का पालन करवाना, शिक्षा तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध और यातायात के साधनों का निर्माण इत्यादि कुछ ऐसे कार्य हैं जिनका सम्पादन राज्य द्वारा ही सुगमता से हो सकता है । केवल इतना ही नहीं, राज्य का कुछ प्रकार के कार्यों पर नियंत्रण तथा अनुशासन भी मान्य रहता है । उदाहरण के लिए मादक वस्तुओं के उत्पादन पर नियंत्रण । परन्तु राज्य के कार्यों को इतने ही तक सीमित करने से पूँजीवाद की प्रगति में रुकावटें आने लगीं और उसके कुछ अवाञ्छित परिणाम भी दृष्टिगोचर होने लगे । इनके निराकरण के लिए यह आवश्यक हो गया कि राज्य को अधिक आर्थिक अधिकार दिये जायँ जिससे वह यथासमय यथोचित रूप से हस्तक्षेप कर सके । एक प्रकार से राज्य का यह उत्तरदायित्व हो गया है कि वह पूँजीवाद के दुष्परिणामों से समाज की रक्षा करे ।

राज्य इन अधिकारों का प्रयोग अनेक प्रकार से करता है । कुछ प्रयोगों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में और कुछ का अप्रत्यक्ष रूप में होता है । राज्य नियम बनाकर अर्थ-तन्त्र के किसी भी भाग का नियंत्रण कर सकता

है अथवा अपनी राजस्व-नीति और मुद्रा-नीति द्वारा अर्थ-तन्त्र को प्रभावित कर सकता है। राज्य किस प्रकार इन शक्तियों का प्रयोग करता है और फलस्वरूप किस प्रकार पूँजीवाद की क्रियाएँ और सम्बन्ध प्रभावित होते हैं; इसका विश्लेषण हम पूँजीवाद की समस्याओं से संदर्भ में करेंगे।

पूर्ण रोजगार

सबसे पहले हम आर्थिक साधनों के नियोजन और भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों में उनके वितरण का प्रश्न लेंगे। यह तो हम देख ही चुके हैं कि स्वतन्त्र अर्थ-पद्धति में बहुधा साधनों को पूर्ण रोजगार नहीं मिल पाता जिसके कारण उत्पादन अधिकतम नहीं हो पाता और जीवन स्तर भी नीचा रहता है। साधनों की बेकारी दूर करना राज्य का एक प्रधान कर्तव्य हो गया है। इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि अनेक पूँजीवादी देशों ने ऐसे नियम बना लिये हैं जिनके अन्तर्गत उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे जिस किसी प्रकार से भी देश में पूर्ण रोजगार का स्तर लाने का प्रयत्न करें। अनेक उपायों से साधनों की बेकारी दूर की जा सकती है। एक उपाय यह है कि राज्य सार्वजनिक क्षेत्र में इस प्रकार के साधनों का उपयोग करे। सड़कें बनवाना, नहरें खुदवाना, पुल और भवन इत्यादि का निर्माण कार्य, नदी-घाटी योजनाएँ इत्यादि अनेक ऐसे कार्य हैं जो बहुधा सार्वजनिक क्षेत्र में ही क्रियान्वित होते हैं। ये कार्य ऐसे हैं जिनकी निजी क्षेत्र से प्रतिस्पर्धा भी नहीं होती है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में जो विस्तार होता है उसका प्रभाव निजी क्षेत्र पर भी अच्छा पड़ता है। सार्वजनिक क्षेत्र में जिन जिन व्यक्तियों को रोजगार मिलता है वे अपनी आय निजी क्षेत्र के उद्योगों में बनी हुई वस्तुओं पर खर्च करते हैं। इससे इन उद्योग धन्धों को भी विस्तार करने की प्रेरणा मिलती है और कुछ बेकार साधनों को इनमें भी काम मिल जाता है। इस प्रकार रोजगार और आय में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। इस सिद्धान्त को अर्थशास्त्र में “गुणक सिद्धान्त”

कहते हैं। इस सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए सार्वजनिक क्षेत्र में एक सड़क के निर्माण में एक लाख रुपया लगाया गया और एक हजार मजदूरों को काम में लगाया गया। मान लीजिए प्रारम्भ में सभी रुपया मजदूरी के रूप में दिया गया। अब ये मजदूर इस आय का कुछ हिस्सा उपभोग की वस्तुओं को खरीदने में व्यय करेंगे और कुछ हिस्सा बचत के रूप में रख लेंगे। मान लीजिए इस बढ़ी हुई आय का $\frac{2}{3}$ भाग उपभोग में और $\frac{1}{3}$ बचत में विभाजित होता है, तो गणित से यह सिद्ध किया जा सकता है कि एक लाख रुपया जो राज्य द्वारा सड़क निर्माण में लगाया गया उससे केवल एक लाख रुपये की आय नहीं होगी। इस प्रारम्भिक आय का $\frac{2}{3}$ खर्च होगा जिसके फलस्वरूप अन्य व्यक्तियों की आय में इतनी वृद्धि होगी। वे भी इस नयी आय का $\frac{2}{3}$ खर्च करेंगे। इस प्रकार अंततोगत्वा समाज की कुल आय में एक अवधि के भीतर एक लाख रुपया राज्यव्यय के फलस्वरूप तीन लाख रुपये की वृद्धि हो जायगी। इसी प्रकार रोजगार में भी वृद्धि होगी। प्रारम्भ में एक हजार व्यक्तियों को काम मिला था, इनकी आय के व्यय के फलस्वरूप अन्य उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि होगी और कुछ और व्यक्तियों को काम मिलेगा और इनको जो आय प्राप्त होगी उसके व्यय के फलस्वरूप कुछ अन्य व्यक्तियों को काम मिलेगा। इस प्रकार अन्ततोगत्वा एक हजार से कहीं अधिक व्यक्तियों को काम मिल जायगा।

ऐसी भी सम्भावना है कि यदि उपभोग की वस्तुओं की माँग में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो गयी तो उत्पादक नयी पूँजी अपने उद्योग धन्धों में लगायें। इस नयी पूँजी के लगाने से भी रोजगार में वृद्धि होगी और “गुणक सिद्धान्त” चरितार्थ होने लगेगा। इस प्रकार रोजगार की वृद्धि में वेग आ जायगा। उपभोग की वृद्धि के फलस्वरूप विनियोग में जो वृद्धि हो जाती है उसको अर्थ शास्त्र में “गतिमान् सिद्धान्त” कहते हैं। गुणक सिद्धान्त और गतिमान् सिद्धान्त की क्रिया और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पत्ति के साधनों में बेकारी कम हो जाती है।

सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा पूर्ण रोजगारी लाने में कठिनाइयाँ

ऊपर दिये गये विवरण से यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि राज्य के सार्वजनिक क्षेत्र में विस्तार करने से ही आर्थिक साधनों में पूर्ण रोजगारी की स्थिति आ जायगी। इस विधि में भी अनेक कठिनाइयाँ और अपवाद हैं। पहले तो राज्य को यह अनुमान लगाना पड़ता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में कितना विनियोग करने से पूर्ण रोजगारी की स्थिति हो जायगी। तदुपरान्त उसको उतने धन का प्रबन्ध करना पड़ता है। हो सकता है राज्यकोष में पर्याप्त साधन न हों। अधिक कर लगाने से सम्भव है निजी क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार की हो कि वहाँ विनियोग की मात्रा में कमी आ जाय और कुछ आर्थिक साधनों में बेकारी आ जाय। अतएव ऐसी आशंका रहती है कि जितनी उपलब्धि सार्वजनिक क्षेत्र में होती है उतनी ही अथवा उससे भी अधिक क्षति निजी क्षेत्र में हो जाय। राज्य ऋण ले सकता है परन्तु हो सकता है कि ऋण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त न हो और साथ ही साथ ब्याज का बोझ भी ऋण से सम्बन्धित रहता है। घाटे के बजट द्वारा भी राज्य सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय कर सकता है। परन्तु इस नीति में बहुत खतरा है। यदि बड़ी मात्रा में घाटे के बजट का प्रयोग किया गया तो मुद्रा स्फीति और उससे संलग्न आर्थिक समस्याओं का जन्म हो जाता है।

धन का किसी प्रकार से प्रबन्ध हो जाने पर भी सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता है। एक प्रमुख समस्या यह भी है कि किन किन कार्यों में यह धन लगाया जाय। यह बात भी ध्यान में रखनी पड़ती है कि जिन योजनाओं में राज्य पूँजी लगाता है वे निजी क्षेत्र की उसी प्रकार की योजनाओं से प्रतिस्पर्धा न करें। ऐसे भी क्षेत्र अवश्य हैं जिनमें निजी पूँजी आकर्षित नहीं होती है, जैसे नदी घाटी योजनाएँ। परन्तु सम्भव है कि ऐसे अवसर पर जब कि राज्य को एक बड़ी मात्रा में बेकारी की समस्या का सामना करना पड़ता है, राज्य के पास ऐसी योजनाएँ पर्याप्त संख्या में

उपलब्ध न हों। बिना सोचे विचारे किसी भी योजना में सार्वजनिक धन को लगा देने से उसके अपव्यय की और साधनों के अनुचित प्रयोग की आशंका रहती है।

इन कठिनाइयों के अतिरिक्त जिन “गुणक” और “गतिमान्” नामक सिद्धान्तों का हमने ऊपर वर्णन किया, इनके भी पूर्ण रूप से कार्यान्वित होने में बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। कभी कभी ऐसा वातावरण रहता है कि “गुणक” और “गतिमान्” में बहुत कम प्रतिक्रिया होती है। नवीन आय का एक बड़ा भाग बचत के रूप में परिणत हो जाता है, अथवा अन्य प्रकार से आर्थिक क्षेत्र से हट जाता है। इसी प्रकार उपभोग की वस्तुओं की माँग में वृद्धि के फलस्वरूप भी कभी कभी उत्पादक यह सोचकर कि यह वृद्धि स्थायी नहीं है, विनियोग में वृद्धि नहीं करते हैं।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि राज्य सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से साधनों की बेकारी कुछ अंश में कम कर सकता है, परन्तु इसका कोई भरोसा नहीं है कि इससे भी पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो ही जायगी। अतएव राज्य को अन्य उपायों का भी प्रयोग करना पड़ता है।

निजी क्षेत्र की सहायता

विनियोग और रोजगार में वृद्धि करने का एक उपाय यह है कि निजी क्षेत्र को राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। निजी क्षेत्र के उद्योग धन्धों में विनियोग की मात्रा इस लिए कम हो जाती है कि उनके स्वामियों को घाटा होने लगता है। यदि राज्य इस क्षति की पूर्ति करने का आश्वासन दे तो इस क्षेत्र में विनियोग की मात्रा में वृद्धि होने लगे और इन उद्योग धन्धों में रोजगार में भी वृद्धि होने लगे। सिद्धान्त के रूप में यह उपाय उपयुक्त प्रतीत होता है और राज्य द्वारा कभी कभी कुछ उद्योग धन्धों को आर्थिक सहायता मिलती भी है। परन्तु बड़े पैमाने पर इस नीति का प्रयोग करने पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कुछ कठिनाइयाँ इस प्रकार की हैं। किस किस उद्योग को सहायता दी जाय ?

प्रत्येक उद्योग में अनेक उत्पादक होते हैं। अतएव दूसरा प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक उत्पादक को कितनी सहायता दी जाय ? इसका अनुमान लगाने के लिए प्रत्येक उत्पादक के लागत-व्यय और उत्पादित वस्तुओं के बाजार भाव के आँकड़े प्राप्त करने पड़ेंगे। एक प्रश्न यह भी उठता है कि कितनी अवधि के लिए यह सहायता दी जाय ? इस प्रकार की सहायता की कुछ उत्पादकों पर ऐसी प्रतिक्रिया भी हो सकती है कि सहायता की आशा पर वे अपने उद्योग में कार्यक्षमता की वृद्धि करने के प्रति उदासीन हो जायँ। इसके अतिरिक्त आर्थिक सहायता देने के लिए राज्य को धन की भी आवश्यकता होगी। यह धन कैसे प्राप्त किया जाय ?

निजी उद्योग धन्धों को प्रोत्साहित करने का एक उपाय यह भी है कि उनको करभार से मुक्त किया जाय अथवा करभार कम किया जाय। इससे कुछ सहायता तो मिल सकती है परन्तु यदि आर्थिक मन्दी गहरी है और उत्पादकों में निराशा की भावना अधिक है तो केवल करों में कमी के फलस्वरूप ही विनियोग और उत्पादन में वृद्धि की सम्भावना कम है। इसी प्रकार कम ब्याज पर पूँजी उपलब्ध कराने से भी सीमित मात्रा में ही विनियोग में वृद्धि हो सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निजी क्षेत्र के उद्योग धन्धों को आर्थिक सहायता देकर हमें उनमें विनियोग और रोजगार की वृद्धि कराने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। फिर भी सार्वजनिक क्षेत्र में विस्तार करने के साथ साथ निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता देने से रोजगार की समस्या के कुछ मात्रा में हल होने की सम्भावना तो है ही।

उपभोग में वृद्धि

जिन दो उपायों का विश्लेषण ऊपर किया गया है उनका सम्बन्ध सीधे ही विनियोग और उत्पादन की वृद्धि करने से है। एक अन्य उपाय उपभोग द्वारा भी है। बेकारी की अवस्था के कुल उपभोग में भी कमी आ जाती है और यदि बेकारी बड़ी मात्रा में अधिक अवधि के लिए हो

तो इससे उपभोग की मात्रा में और भी कमी आ जायगी। उपभोग में कमी की प्रतिक्रिया उत्पादन पर भी होती है। पूँजीवाद में उत्पादन की मात्रा उपभोग की मात्रा पर विशेष रूप से निर्भर रहती है। कीन्स और उनके अनुयायियों का मत है कि यदि उपभोग में स्थिरता लायी जा सके तो इसके फलस्वरूप विनियोग और उत्पादन की मात्रा में भी स्थिरता लायी जा सकती है। उपभोग में स्थिरता लाने के लिए राज्य क्या कर सकता है? अनेक विकसित देशों में राज्य की ओर से बेकारी के बीमे की योजना पायी जाती है। यदि पर्याप्त मात्रा में बेकार मजदूरों को आर्थिक सहायता दी जाय तो कम से कम उपभोग की मात्रा में गिरावट कुछ अंश में रुक सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काल में आर्थिक साधनों में बेकारी रोकने अथवा कम करने के लिए राज्य द्वारा अनेक प्रकार के उपाय किये जाते हैं। गत विश्वव्यापी मन्दी (१९२९-३३) के पश्चात् इस ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। इसका बहुत कुछ श्रेय कीन्स को दिया जाता है। उन्होंने शास्त्रीय अर्थ-शास्त्रियों के मत का खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था में अपूर्ण रोजगार के स्तर पर भी आर्थिक सन्तुलन हो सकता है जिसमें साधनों के न चाहते हुए भी उनमें बेकारी की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। उनके मत में इसका प्रतीकार राज्य की सहायता से ही हो सकता है।

साधनों का वितरण

अब हम पूँजीवाद की दूसरी समस्या को लेते हैं। यह समस्या है साधनों का भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों में वितरण और तदनुसार भिन्न भिन्न वस्तुओं का भिन्न भिन्न मात्राओं में उत्पादन। पिछले अध्याय में हमने बतलाया कि पूँजीवाद के समर्थक यह मानते हैं कि इस पद्धति के अन्तर्गत साधनों के स्वतन्त्रतापूर्वक एक उद्योग से दूसरे उद्योग में जाने से न केवल उत्पादकों का परन्तु उपभोक्ताओं का भी हित होता है। परन्तु बहुधा यह भी होता है

कि जिस प्रकार के साधन के वितरण और वस्तुओं के उत्पादन से उत्पादकों को अधिकतम लाभ होता है उससे समाज का अधिकतम कल्याण नहीं होता है। अतएव समाज के दृष्टिकोण से साधनों का अन्य प्रकार से वितरण करना आवश्यक हो जाता है। यह कार्य भी राज्य द्वारा सम्पादित कराने की चेष्टा की जाती है। अनेक प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन राज्य द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में ही होता है, जैसे शिक्षा, चिकित्सा इत्यादि। सम्भव है कि स्वतन्त्र अर्थ-पद्धति में इस दिशा में पर्याप्त मात्रा में साधन न लगाये जाते। सार्वजनिक क्षेत्र में जिन वस्तुओं अथवा सेवाओं का उत्पादन होता है उसका उद्देश्य लाभ की आशा नहीं परन्तु समाज का हित होता है। वैसे अनेक सार्वजनिक उद्योगों में लाभ भी होता है परन्तु यह प्रधान लक्ष्य नहीं होता है।

राज्य अपनी कर-नीति तथा व्यय-नीति द्वारा भी आर्थिक साधनों के वितरण को प्रभावित कर सकता है। उदाहरण के लिए संरक्षण आयात-कर द्वारा राज्य विदेशों से आनेवाले प्रतिद्वन्द्वी माल पर प्रतिबन्ध लगाकर देशीय उत्पादन को प्रोत्साहित कर सकता है। इस प्रकार जिन उद्योगों में साधारणतः साधन आकर्षित नहीं होते वहाँ संरक्षण कर-नीति द्वारा उधर जाने लगते हैं। इसके अतिरिक्त विविध प्रकार के करों में परिवर्तन करके भी साधनों के वितरण में परिवर्तन किया जा सकता है। यदि राज्य चाहता है कि किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में कमी हो तो वह उस पर बड़ी मात्रा में कर लगा सकता है जिसके फलस्वरूप उस वस्तु का मूल्य बढ़ जायगा और उसकी माँग घट जायगी। इसी प्रकार जिन वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन देना हो उन पर कर कम किया जा सकता है अथवा बिलकुल हटाया जा सकता है। वैसे तो राज्य वैधानिक रूप से भी किसी का उत्पादन रोक सकता है। आर्थिक सहायता देकर भी राज्य उन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करवा सकता है जो उसकी दृष्टि में समाज के हित की हों। इस प्रकार पूँजीवाद के ढाँचे के भीतर राज्य साधनों के वितरण को प्रभावित कर सकता है।

आय और सम्पत्ति का वितरण

अब आय और सम्पत्ति के वितरण की समस्या पर आइए। यह तो सभी जानते हैं कि पूँजीवाद में आय और सम्पत्ति के वितरण में विषमता आ जाती है। प्रारम्भ में ऐसा समझा जाता था कि इस विषमता से बचत और पूँजीकरण में सहायता मिलती है जिससे आर्थिक प्रगति में सहायता मिलती है। यह तो माना जाता था कि नैतिक दृष्टि से यह विषमता ठीक नहीं है। कम आय वालों को अधिक मिलना चाहिए। परन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से यह असमानता मान्य समझी जाती थी, क्योंकि यह पूँजीवादी आर्थिक नियमों के अनुरूप थी। आधुनिक काल में अनेक अर्थशास्त्रियों के मत में पूँजीवादी अर्थतन्त्र की अस्थिरता का एक कारण आय के वितरण की असमानता भी है। पूँजीवाद के चलन में जब यह असमानता अधिक हो जाती है तो इससे उपभोग की क्षति होती है जिसके फलस्वरूप विनियोग, रोजगार इत्यादि का स्तर गिरने लगता है। इस प्रकार आय की असमानता कम करने का आधार अब केवल नैतिक ही नहीं परन्तु आर्थिक भी हो गया है। अर्थतन्त्र की स्वस्थता के लिए यह आवश्यक है कि इस असमानता को कम करने का प्रयत्न किया जाय। पूँजीवाद के अन्तर्गत तो कोई इस प्रकार का माध्यम नहीं है जो असमानता कम कर सके। अतएव यह कार्य भी राज्य को ही करना पड़ता है। इसके सम्पादन की अनेक विधियाँ हैं।

एक विधि यह है कि राज्य वैधानिक तौर पर एक न्यूनतम मजदूरी की दर निर्धारित कर दे जिससे कम मजदूरी कोई भी उत्पादक न दे सके। इस प्रकार के न्यूनतम मजदूरी के नियम अनेक देशों में बन गये हैं। भारत-वर्ष में भी कुछ उद्योगों में यह नियम लागू है। यह नियम असमानता कम करने में तो विशेष सहायता नहीं देता है परन्तु असमानता की वृद्धि होने में रोक थाम करता है।

राजस्व-नीति द्वारा असमानता में कमी

राज्य द्वारा असमानता कम करने की मुख्य विधि राजस्व-नीति है । जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, राजस्व-नीति से राज्य की कर, व्यय और ऋण नीति समझी जाती है । इनके द्वारा आय की असमानता कुछ अंश में कम की जा सकती है । पहले हम इस सन्दर्भ में करों की विवेचना करेंगे । कर लगाने का मुख्य उद्देश्य राज्य को आय प्राप्त कराना है । राज्य-कोष का दो-तिहाई से तीन-चौथाई तक भाग करों द्वारा ही प्राप्त होता है । करों का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि जितनी मात्रा में राज्य को कर दिया जाता है उतनी मात्रा में करदाताओं की आय कम हो जाती है और राज्य की आय में वृद्धि हो जाती है । करों का व्यक्तिगत आय के वितरण पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है यह कर-पद्धति के स्वरूप पर निर्भर रहता है । इस दृष्टिकोण से तीन प्रकार की करपद्धतियाँ तथा कतिपय कर भी होते हैं । एक कर-पद्धति इस प्रकार की होती है जिसके अन्तर्गत करो के देने के बाद भी करदाताओं की आय में वही अनुपात रहता है जो कर देने से पूर्व था । उस कर-पद्धति को आनुपातिक कर-पद्धति कहा जाता है । क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक छोटी बड़ी आय का एक समान अनुपात कर के रूप में लिया जाता है । नीचे दिये गये उदाहरण से यह स्पष्ट किया जाता है—

आय	कर की दर	कुल कर	कर देने पर बची आय
(अ) १,००० रुपया	१०%	१०० रुपया	९०० रुपया
(ब) १०,००० ,,	१०%	१,००० ,,	९,००० ,,
(स) १,००,००० ,,	१०%	१०,००० ,,	९०,००० ,,

इस उदाहरण में “अ”, “ब” और “स” तीन व्यक्ति हैं जिनकी वार्षिक आय कर देने से पहले क्रमशः १,००० रुपया, १०,००० रुपया और

१,००,००० रुपया है। कर की दर १० प्रतिशत सबके लिए समान ही है। इस दर से कर देने के उपरान्त उनकी आय क्रमशः ९०० रु०, ९,००० रु०, और ९०,००० रु० रह जाती है। स्पष्ट है कि १,०००, १०,००० और १,००,००० में वही अनुपात है जो ९,००, ९०,००, व ९०००० में है। अर्थात् इस पद्धति के अनुसार कर लगाने से करदाताओं की आय समान अनुपात में कम होती है। अतएव वितरण की असमानता पूर्ववत् ही रहती है।

दूसरे प्रकार की कर-पद्धति को वर्धमान करपद्धति कहते हैं। इसके अनुसार एक न्यूनतम आय तक कोई कर नहीं लिया जाता है और उसके ऊपर ज्यों ज्यों आय बढ़ती जाती है कर की दर भी बढ़ती जाती है। पूर्वोक्त उदाहरण द्वारा इस कर-पद्धति को निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है—

आय	कर की दर	कुल कर	कर देने पर बची आय
(अ) १,००० रुपया	० %	० रुपया	१,००० रुपया
(ब) १०,००० ,,	१०%	१,००० ,,	९,००० ,,
(स) १,००,००० ,,	२५%	२५,००० ,,	७५,००० ,,

इस तालिका के अन्तिम कोष्ठक से स्पष्ट है कि कर देने के उपरान्त “अ”, “ब” और “स” की आय की असमानता में कमी आ गयी है।

तीसरे प्रकार की कर-पद्धति को अधोमुखी कर पद्धति कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत आय में वृद्धि होने पर कर की दर घटती जाती है। अर्थात् कम आय वालों पर कर की दर अधिक होती है और अधिक आय वालों पर कम होती है। वास्तव में प्रत्यक्ष रूप में इस प्रकार के कर नहीं लगाये जाते हैं परन्तु कुछ इस प्रकार के वस्तु-कर होते हैं जिनका भार कम आय वालों पर अधिक और अधिक आय वालों पर कम होता है। उदाहरण के लिए यदि जीवन निर्वाह की वस्तुओं पर कर लगाया जाय तो उसका भार गरीबों पर अधिक और अमीरों पर कम होगा, क्योंकि गरीब लोग अपनी आय

का एक बहुत बड़ा भाग इन वस्तुओं पर व्यय करते हैं और अमीर लोग छोटा भाग व्यय करते हैं।

स्पष्ट है कि यदि करों द्वारा आय की असमानता में कमी लाना है तो यह केवल वर्धमान कर-पद्धति द्वारा ही हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि कर-पद्धति का प्रत्येक कर वर्धमान हो परन्तु करों का समुच्चय वर्धमान होना चाहिए। कुछ कर सुगमता से वर्धमान हो सकते हैं। जैसे कि आय कर, सम्पत्ति कर, उत्तराधिकार कर। इस प्रकार के करों को प्रत्यक्ष कर भी कहते हैं। जो कर वस्तुओं पर लगाये जाते हैं, जैसे आयात-निर्यात कर, बिक्री कर, उत्पादन कर, उनको अप्रत्यक्ष कर कहते हैं। इनको वर्धमान करना कठिन है। वस्तु-कर में एक प्रकार से यह तत्व लाया जा सकता है। यदि मूल्यवान् वस्तुओं पर जिनको अधिकतर धनवान् खरीदते हैं, अधिक कर लगाया जाय और सस्ती वस्तुओं पर जिनको गरीब खरीदते हैं, कर या तो लगाया ही न जाय अथवा बहुत कम मात्रा में लगाया जाय, तो इस प्रकार के कर का प्रभाव वर्धमानात्मक हो सकता है। उदाहरण के लिए यदि वस्त्रों पर कर लगाया जाता है तो इस प्रभाव को लाने के लिए रेशमो वस्त्र पर प्रति गज अधिक कर होना चाहिए और मोटे काड़े पर कम। इसी प्रकार फ्रैशन की वस्तुओं पर, विलासिता की वस्तुओं पर और आडम्बर की वस्तुओं पर अधिक मात्रा में कर लगाना चाहिए, क्योंकि इनका प्रयोग अधिकतर सम्पन्न लोग ही करते हैं और जीवन निर्वाह की वस्तुओं को कर से मुक्त कर देना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के कर जब कर-पद्धति को वर्धमान बना देते हैं तो ऐसी कर-पद्धति से वितरण की असमानता में कमी लायी जा सकती है।

सम्पत्ति-कर द्वारा असमानता में कमी

पिछले अध्याय में हमने बतलाया था कि आय की असमानता का एक कारण यह भी है कि कुछ भाग्यशाली व्यक्तियों को आय प्राप्त कराने वाली सम्पत्ति बना किसी परिश्रम के उत्तराधिकार में मिलती है। इसके

समाधान के लिए अनेक देशों में मृत्यु और उत्तराधिकार करों की योजना है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसकी सम्पत्ति पर (यदि उसका मूल्य निर्धारित रकम से अधिक हो तो) राज्य कर वसूल करता है, जिससे उत्तराधिकारियों को मृत व्यक्ति की पूरी सम्पत्ति नहीं मिलती है। यह कर वर्धमान दर पर लिया जाता है। उत्तराधिकारियों पर भी कर लगता है और मृत व्यक्ति से उत्तराधिकारियों का सम्बन्ध जितनी दूरी का होता है उसी के अनुसार कर की दर में भी वृद्धि होती है। इटली के एक विद्वान् रिम्नानो ने एक योजना बनायी थी जिसमें उसने उत्तराधिकार कर में सम्पत्ति के उत्तरोत्तर हस्तान्तरण की संख्या के अनुसार वृद्धि करने का सुझाव दिया था। किसी सम्पत्ति विशेष के प्रथम बार हस्तान्तरण में कर की दर कम, दूसरी बार हस्तान्तरण में उससे अधिक और तीसरी बार हस्तान्तरण में और भी अधिक, इस प्रकार चार पाँच पीढ़ियों के बाद वह सम्पत्ति (अथवा उसका मूल्य) राज्य के पास पहुँच जाती है। वर्तमान काल में सम्पत्ति कर, मृत्यु कर और उत्तराधिकार करों को सम्पत्ति के वितरण की और तत्सम्बन्धी आय के वितरण की असमानता कम करने में प्रमुख स्थान प्राप्त है।

सामाजिक सेवाएँ

सामाजिक सेवाओं के द्वारा भी आय की असमानता को कम किया जा सकता है। वैसे तो अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाएँ राज्य द्वारा उपलब्ध करायी जाती हैं परन्तु उनमें शिक्षा, चिकित्सा तथा सामाजिक सुरक्षा प्रधान हैं। इन सामाजिक सेवाओं पर प्रत्येक देश में राज्य द्वारा किया गया व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। अब हम देखेंगे कि किस प्रकार सामाजिक सेवाओं द्वारा आय के वितरण की असमानता कम होती है।

शिक्षा और चिकित्सा

पहले शिक्षा को ही लीजिए। शिक्षा से तात्पर्य केवल अक्षर-ज्ञान का ही नहीं है। वास्तविक शिक्षा मनुष्य के पूर्ण विकास में और उसके चरित्र

और आचरण को सुधारने में सहायता करती है। शिक्षित व्यक्ति की कार्य-क्षमता अशिक्षित व्यक्ति से अधिक होती है अतएव उसकी उपार्जन शक्ति और आय भी अधिक होती है। राज्य द्वारा प्रत्येक स्तर पर शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। अनेक देशों में प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य रूप से दी जाती है। कहीं कहीं माध्यमिक शिक्षा भी निःशुल्क दी जाती है। ऊँची शिक्षा के लिए योग्य निर्धन विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता भी दी जाती है। इस प्रकार धनी और निर्धन दोनों प्रकार के बच्चों को शिक्षा द्वारा किसी भी रोजगार में प्रवेश करने के लिए समान अवसर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त तकनीकी और उद्योग सम्बन्धी शिक्षा का भी प्रबन्ध रहता है। जैसे इंजीनियरिंग, डाक्टरी इत्यादि। इनमें भी गरीब विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता दी जाती है।

इसी प्रकार सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा के साधनों को उपलब्ध कराने से भी सारीरिक शक्ति और उत्पादन शक्ति की रक्षा होती है। बीमार और अपाहिज व्यक्ति की कार्यक्षमता बहुत कम रहती है। अनेक व्यक्तियों के पास चिकित्सा कराने के लिए पर्याप्त धन नहीं होता है। राज्य की ओर से चिकित्सालय, स्वास्थ्य केन्द्र इत्यादि खोले जाते हैं, जहाँ गरीब लोगों की निःशुल्क चिकित्सा होती है और दवा भी उपलब्ध की जाती है। राज्य द्वारा सफाई, शुद्ध पीने के पानी की व्यवस्था, संक्रामक रोगों की रोक थाम इत्यादि सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा का भी प्रबन्ध किया जाता है।

सामाजिक सुरक्षा

शिक्षा और चिकित्सा द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में आय की असमानता कम होती है। सामाजिक सुरक्षा द्वारा ऐसा प्रत्यक्ष रूप में होता है। किसी भी व्यक्ति के जीवन काल में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब कि उसकी आय बहुत कम हो जाती है अथवा बन्द हो जाती है। बीमारी, बेकारी, बुढ़ापा, परिवार में कमानेवाले व्यक्ति की मृत्यु के कारण बच्चों का अनाथ हो

जाना, स्त्री का विधवा हो जाना, प्रसूति की अवस्था, बाढ़, भूकम्प, दुर्भिक्ष इत्यादि दैवी आपदाएँ इत्यादि ऐसे अक्सर हैं जब कि मनुष्य को आर्थिक सहायता की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है।

अनेक देशों में इस प्रकार की आपदाओं और दुर्घटनाओं से ग्रस्त लोगों की सहायता के लिए सांगोपांग प्रबन्ध किये जा चुके हैं। इंग्लैंड में एक इस प्रकार की योजना है जिसको उसके जन्मदाता के नाम पर “बीभरिज योजना” कहते हैं। इसके अन्तर्गत गर्भावस्था से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया तक आर्थिक सहायता का प्रबन्ध है। प्रत्येक व्यक्ति की एक न्यूनतम आय सुरक्षित रहती है। रूग्णावस्था में निःशुल्क उपचार और आर्थिक सहायता, बुढ़ापे में पेंशन, बेकारी की अवधि में आर्थिक सहायता, दुर्घटना में मुआवजा, अनाथों और विधवाओं को आर्थिक सहायता इत्यादि अनेक प्रकार के प्रबन्ध हैं।

समाजिक बीमा

इन आपदाओं और दुर्घटनाओं में जो आर्थिक सहायता दी जाती है उसके दो रूप हैं। एक में सहायता पानेवाले व्यक्तियों को अपनी स्वस्थ अवस्था में एक निर्धारित रकम जमा करनी पड़ती है। उद्योगपति और राज्य भी इसमें एक निर्धारित रकम मिलाते हैं। इस प्रकार त्रिवर्गीय रूप में एक कोष इकट्ठा हो जाता है जिससे भुगतान किया जाता है। उदाहरण के लिए बेकारी की अवस्था में मजदूरों को जो आर्थिक सहायता दी जाती है, उसके लिए प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास मजदूरों के वेतन से कुछ भाग काट लिया जाता है, कुछ भाग मालिकों को देना पड़ता है और कुछ राज्य से प्राप्त होता है। जब कोई मजदूर बेकार हो जाता है तो इसी कोष से उसको आर्थिक सहायता दी जाती है। इसी प्रकार बीमारी की अवस्था के लिए भी प्रबन्ध रहता है। इस तरह सहायता प्राप्त होने के जिस रूप में लाभार्थी को भी कुछ देना पड़ता है उसको “सामाजिक बीमा” कहते हैं। सहायता का दूसरा रूप वह है जिसमें लाभार्थी को कुछ

देना नहीं पड़ता है। इस प्रकार की सहायता विशेष रूप में दैवी आपदाओं से विपन्न व्यक्तियों को दी जाती है।

स्पष्ट है कि सामाजिक सेवाओं में जो राज्य द्वारा व्यय किया जाता है उसका लाभ अधिकांश रूप में निर्धन लोगों को प्राप्त होता है। इससे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से उनकी आय में वृद्धि होती है। इन्हीं सामाजिक सेवाओं के प्रबन्ध करने और उनको जरूरतमन्द व्यक्तियों और वर्गों को उपलब्ध कराने के फलस्वरूप वर्तमान राज्यों को “कल्याणकारी राज्य” कहा जाने लगा है।

कुछ अन्य प्रकार से भी गरीबों की वास्तविक आय में राज्य वृद्धि करते हैं। उदाहरण के लिए मजदूरों के लिए सरकार मकान बनवाती है और कम किराये पर उनको उपलब्ध कराती है। इसी प्रकार मँहगाई के दिनों में कम आय वाले व्यक्तियों को सस्ते दामों पर वह जीवन-निर्वाह की सामग्री उपलब्ध कराती है। सरकार ऐसे उद्योग धन्धों को आर्थिक सहायता देती है जिनमें उत्पादित वस्तुओं का उपभोग विशेष कर गरीब लोग करते हैं। इस आर्थिक सहायता के फलस्वरूप इन वस्तुओं का मूल्य कम रहता है।

राज्य और आर्थिक अस्थिरता

हम अनेक सन्दर्भों में पूँजीवाद में निहित आर्थिक अस्थिरता का वर्णन कर चुके हैं और यह भी लिख आये हैं कि इसके निवारण के लिए राज्य प्रयत्नशील रहते हैं। विशेष कर मन्दी की अवस्था में, जब कि आर्थिक क्रियाओं का स्तर बहुत गिर जाता है और जीवन-स्तर गिरने लगता है, राज्य का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। निजी उद्योग धन्धों के विनियोग की मात्रा में जो कमी आ जाती है उसकी पूर्ति राज्य को करनी पड़ती है। राज्य सार्वजनिक क्षेत्र में विस्तार करके, करों में कमी करके और निजी उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर तथा अन्य प्रकार से भी उनको प्रोत्साहित करके इसकी पूर्ति की चेष्टा करते हैं। गत १९२९-३३ की

विश्वव्यापी मंदी के पश्चात् अभी तक इस प्रकार की मन्दी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है (यद्यपि बीच-बीच में अल्पकालीन मन्दी के अवसर आये हैं)। यह इस बात का द्योतक है कि वर्तमान राज्य इस दिशा में सतर्क रहते हैं और ज्यों ही मन्दी के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वे तुरन्त ही अपनी राजस्व-नीति, मुद्रा-नीति और अन्य प्रकार की आर्थिक नीति द्वारा उसका प्रतीकार करने लगते हैं।

इसी प्रकार जब अर्थतन्त्र में आर्थिक उत्तेजना की अस्वस्थ अवस्था उत्पन्न होने लगती है, जिसके अन्तर्गत विनियोग में इतनी मात्रा में वृद्धि होने लगती है कि साधनों की माँग पूर्ति से कहीं अधिक हो जाती है और सक्रामक रूप में मुद्रास्फीति का प्रादुर्भाव होने लगता है, तब राज्य द्वारा इस अवस्था का सामना करने का भी प्रबन्ध किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अनेक देशों में इस प्रकार की अवस्था पायी गयी है। ऐसी दशा में जहाँ तक राजस्व-नीति का सम्बन्ध है, राज्य “बचत का बजट” बनाने की चेष्टा करता है, अर्थात् करों में वृद्धि और राज्य व्यय में कमी की जाने लगती है। इस उपाय द्वारा अभी तक पर्याप्त मात्रा में सफलता नहीं मिल पायी है। जनतान्त्रिक देशों में राज्य-व्यय में कमी करना बहुत कठिन हो जाता है। करों में वृद्धि करने से बहुधा वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने लगती है, मजदूर अधिक मजदूरी माँगने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप लागत-मूल्य में वृद्धि हो जाती है और फिर वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार एक चक्रवत् मुद्रा-स्फीति में वृद्धि होने लगती है।

मुद्रा-नीति

इस प्रकार की अवस्था का समाधान करने के निमित्त राजस्व नीति के अतिरिक्त मुद्रानीति का भी प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक के व्याज की दर में वृद्धि, केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रभूतियों की बिक्री, बैंकों के रिजर्व-अनुपात में वृद्धि और राज्य के तथा केन्द्रीय बैंक के आदेश आते हैं। इस प्रकार मुद्रा-प्रसार और तत्सम्बन्धी दोषों को दूर करने का

प्रयत्न किया जाता है। इस नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है जिससे राज्य की तथा केन्द्रीय बैंक की नीतियों में सामञ्जस्य लाया जा सके। मुद्रा सम्बन्धी नियंत्रण केवल साधारण प्रकार का ही नहीं परन्तु विशिष्ट प्रकार का भी होता है। साधारण प्रकार के नियंत्रण का प्रभाव सारे अर्थ-तन्त्र पर पड़ता है। परन्तु कभी कभी यह आवश्यक होता है कि यह प्रभाव अर्थ-तन्त्र के विशेष भागों पर ही पड़े। उदाहरण के लिए उपभोग कम करने के लिए अथवा सट्टे-बाजी कम करने के लिए विशिष्ट प्रकार के नियंत्रणों का प्रयोग करना पड़ता है।

प्रत्यक्ष नियंत्रण

इन उपायों के अतिरिक्त राज्य को बहुधा अन्य नियंत्रणों का भी प्रयोग करना पड़ता है। इनमें मुख्य हैं मूल्यों पर नियंत्रण और राशनिंग। राज्य द्वारा अनेक वस्तुओं के, विशेष कर जीवन-निर्वाह की वस्तुओं के मूल्यों पर नियंत्रण किया जाता है और ऐसी वस्तुओं की, जिनकी माँग पूर्ति से बहुत अधिक है, राशनिंग की जाती है। इस प्रकार के नियंत्रण की सफलता के लिए राज्य को एक विशेष प्रकार के प्रशासकों का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। बहुधा ऐसा होता है कि नियंत्रित मूल्यों में बाजार में वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती हैं परन्तु चोर-बाजार में अधिक मूल्यों पर वे मिल जाती हैं। इस प्रकार के मूल्य नियंत्रण का कोई प्रभाव नहीं रहता है। इस प्रकार की समाजद्रोही क्रियाओं को रोकने के लिए सरकार को विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है। कभी कभी सरकारी दुकानें खोल दी जाती हैं जिनमें नियंत्रित मूल्यों पर निर्धारित मात्रा में राशन दिया जाता है।

राज्य और अविकसित देश

अनेक ऐसे देश हैं जिनकी आर्थिक रूप-रेखा पूँजीवादी तो है परन्तु वे अनेक कारणों से अपना आर्थिक विकास नहीं कर पाये हैं। भारतवर्ष भी

ऐसे ही देशों में से है। इन देशों में पूँजीवाद के उन तत्वों को पनपने का अवसर नहीं मिला जिनसे अन्य देशों में आर्थिक प्रगति हुई है। अतएव ये देश वर्तमान काल में भी आर्थिक दृष्टि से अविकसित अथवा अल्प-विकसित अवस्था में पड़े हुए हैं। इनमें प्रायः सभी देश परतन्त्र थे अथवा हैं और अब अनेक स्वतन्त्र हो गये हैं अथवा हो रहे हैं। ये देश अब शीघ्रता से समृद्ध होना चाहते हैं। यदि पूँजीवादी तरीकों से इनको प्रगति करनी हो तो उसमें बहुत समय लगेगा। जो पूँजीवादी देश वर्तमान काल में समृद्ध हैं उनको इस अवस्था तक पहुँचने में बहुत समय लगा। उनको बीच बीच में आर्थिक अपकर्षों का भी सामना करना पड़ा। अन्ततोगत्वा समृद्धि और प्रगति को बनाये रखने के लिए राज्य की ही शरण लेनी पड़ी। अतएव अविकसित देशों ने प्रारम्भ से ही राज्य की सहायता से विकास के कार्य का श्रीगणेश किया है।

अविकसित देशों में आर्थिक प्रगति लाने में राज्य को अब महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा है। आर्थिक प्रगति के लिए जिस प्रकार का वातावरण और आधार चाहिए वह राज्य द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। आधारभूत उद्योग धन्धे, जैसे सड़क, रेल, नहर, डाक, तार, टेलीफोन, विद्युतशक्ति, इजिन, इस्पात इत्यादि के बड़े बड़े कारखाने, इनमें बहुत लागत लगती है और लाभ भी शीघ्रता से नहीं मिल पाता है। अविकसित देशों में इनकी बहुत कमी है। इनकी शीघ्रता से स्थापना राज्य द्वारा ही हो सकती है।

इसी प्रकार अविकसित देशों में बचत, पूँजी और तकनीकी ज्ञान की मात्रा बहुत कम है। इनके पर्याप्त मात्रा में न होने से प्रगति हो नहीं सकती। सरकार अपनी राजस्व नीति द्वारा बचत और पूँजी में भी वृद्धि कर सकती है। वर्तमान काल में राष्ट्रीय आय का काफी बड़ा हिस्सा करों द्वारा राज्य-कोष में पहुँच जाता है। इसके कुछ भाग से सरकार सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी की वृद्धि कर सकती है। प्रगति की दिशा में कुछ अंश में “घाटे के बजट” से भी सहायता ली जा सकती है। कर-नीति द्वारा विलासिता सम्बन्धी उपभोग पर नियंत्रण रखकर बचत में भी वृद्धि की जा सकती है।

स्पष्ट है कि इन विधियों द्वारा अविकसित देशों को प्रगति के मार्ग पर रखने और उसमें तीव्रता लाने के लिए राज्य के आर्थिक कार्य का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है। अर्थ-तन्त्र में निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनों को प्रधानता प्राप्त रहती है। इस प्रकार की अर्थ-पद्धति को मिश्रित आर्थिक पद्धति कहा जाता है। इसकी अपनी विशेषताएँ और समस्याएँ हैं। इनका विस्तारपूर्वक विवेचन आगे किसी अध्याय में किया जायगा।

सारांश

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिसको पूँजीवादी आर्थिक पद्धति कहा जाता है उसके संचालन में राज्य का बड़ा हाथ है। कुछ विचारकों के मत में यदि राज्य का इस प्रकार का हस्तक्षेप और सहयोग न होता तो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती। पूँजीवाद के विरोधियों का कहना है कि अब यह पद्धति अपना कार्य कर चुकी है। आर्थिक विकास के इतिहास में इसका जो स्थान था वह अध्याय अब पूरा होने को है। छिद्रों को बन्द करने से और लीपापोती करने से पूँजीवादी आर्थिक महल अधिक काल तक टिक नहीं सकेगा क्योंकि उसकी जड़ें हिल चुकी हैं। इन विचारकों के मत में अब पूँजीवादी पद्धति का स्थान एक दूसरी पद्धति को लेना है जिसका संचालन पूर्णरूप से योजना-बद्ध रूप में होगा। इस प्रकार की पद्धति सम्भव है शान्तिपूर्वक शनैः शनैः पूँजीवाद का स्थान ले ले अथवा हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करके इसकी स्थापना की जाय।

एक बात स्पष्ट है कि वर्तमान काल की पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था अपने आदर्श रूप से बहुत दूर पहुँच चुकी है। यह अपने पैरों पर खड़े होने में असमर्थ है। राज्य के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप तथा सहयोग के बिना यह लड़खड़ाने लगती है और इसमें अनेक प्रकार की विषमताएँ उत्पन्न होने लगती हैं। भविष्य में इस प्रकार के हस्तक्षेप और सहयोग में वृद्धि होने की ही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

अध्याय ६

समाजवादी आर्थिक पद्धति

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐसा समझा जाता है कि समाजवादी विचारधारा का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके पूर्व भी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था व्यावहारिक रूप में कुछ अंश में कहीं कहीं पायी जाती थी। अनेक प्राचीन अर्थ-व्यवस्थाओं में हमको उत्पत्ति के साधनों पर सामूहिक अधिकार और आवश्यकतानुसार वितरण के उदाहरण मिलते हैं। परन्तु ऐसा समझा जाता है कि समाजवाद का सांगोपांग विस्तृत विवेचन और विश्लेषण उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल से होने लगा। इस शताब्दी के पूर्वार्ध में कुछ लेखकों ने, जिनको “यूटोपियन” समाजवादी कहा जाता है, समाज के लिए समाजवादी व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की, परन्तु वह चलायी न जा सकी। अनेक अर्थ-शास्त्रियों और समाज-शास्त्रियों को इस प्रकार की व्यवस्था के क्षमता-पूर्वक निर्बाध गति से चलने में त्रुटियाँ दिखलाई दी। इसी काल में मार्क्स-वाद का जन्म हुआ। मार्क्स (१८१८-१८८३) ने समाजवाद को नया आधार प्रदान किया और उसकी अनिवार्यता को सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया। मार्क्स का समाजवाद प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगल की विचार-धारा से अनुप्राणित है। हीगल की दुनिया विचारों की दुनिया थी और मार्क्स की दुनिया भौतिक थी। संक्षेप में मार्क्स का कहना है कि समाज का आर्थिक ढाँचा ही मनुष्य-जीवन की सभी संस्थाओं का मूल आधार है। उत्पादन-सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास को निश्चित अवस्था के अनुरूप होते हैं। इन्हीं उत्पादन-सम्बन्धों के योग से समाज की आर्थिक प्रणाली बनती है।

उत्पादन की विधि के अन्तर्गत तत्कालीन उत्पादन की कला तथा सम्पूर्ण आर्थिक विकास-स्तर भी आ जाते हैं। मार्क्स की ऐतिहासिक विवेचना के अनुसार इस आर्थिक विकास के स्तर अथवा उत्पादन की विधि द्वारा सामाजिक सम्बन्ध और व्यवहार निर्धारित होते हैं। जब उत्पादन की विधि में विशेष रूप से परिवर्तन होता है तो उसके फलस्वरूप सामाजिक संस्थाओं, नियमों, वैधानिक सम्बन्धों, राज्य और राजनीतिक संस्थाओं, यहाँ तक कि संस्कृति, कला और विचारों में भी परिवर्तन हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति

मार्क्स तथा उसके साथी एंगिल्स आर्थिक घटनाओं को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पद्धति द्वारा समझाते हैं। इस पद्धति के अनुसार समाज में अपने विकास के किसी स्तरविशेष पर उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ तत्कालीन उत्पादन के सम्बन्धों के संघर्ष में आती हैं। यह संघर्ष उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है जब आर्थिक उत्पादन की प्रणाली अपने ढाँचे के अन्तर्गत रहकर उत्पादन शक्तियों के विकास में अशक्त हो जाती है। इस संघर्ष के फलस्वरूप नये उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना होती है। इस विवेचन को “वाद”, “प्रतिवाद” और “संवाद” के रूप में प्रकट किया जाता है। जो वस्तुस्थिति है उसको वाद कहा जाता है, उसके अन्तर्गत जो संघर्ष के तत्वों का आविर्भाव होता है उसको प्रतिवाद कहा जाता है और अन्त में जो उसका परिणाम होता है उसको संवाद कहते हैं। यही संवाद फिर वस्तुस्थिति के रूप में वाद हो जाता है और कालान्तर में उसी क्रम से प्रतिवाद और संवाद का आविर्भाव होता है। इतिहास के विवेचन की इस पद्धति के अनुसार एक विशेष काल में अपने पूर्व की आर्थिक प्रणाली के स्थान पर दूसरी प्रणाली की प्रतिस्थापना होती है। उदाहरणार्थ आर्थिक विकास के एक अवसर पर स्वामी और दास प्रथा थी। बाद में उसका स्थान सामन्त और कृषक-दास प्रथा ने लिया। सामन्ती अर्थ-व्यवस्था का स्थान पूँजीवाद ने लिया। यह आवश्यक नहीं है कि एक अर्थ-व्यवस्था अपने पूर्व

की अर्थ-व्यवस्था का मूलोच्छेदन ही कर दे। कुछ काल के लिए पुरानी प्रथा भी संकीर्ण रूप में नवीन प्रथा के साथ साथ रह सकती है। भारत में सामन्तवादी प्रथा देशी रियासतों के रूप में पूँजीवादी प्रणाली के साथ साथ स्वतन्त्रता के पूर्व प्रचलित थी। कहीं कहीं दास प्रथा की यादगारें अभी भी मिलती हैं।

पूँजीवाद की अपनी उत्पादन विधि है और अपने उत्पादन सम्बन्ध हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पद्धति के अनुसार इसमें संघर्ष के तत्व उत्पन्न होते हैं जिसके परिणामस्वरूप पूँजीवाद का अन्त होकर एक दूसरी उत्पादन-विधि और उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना होगी। अन्य सम्बन्धों के अतिरिक्त पूँजीवाद में एक विशेष सम्बन्ध पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच होता है। उत्पत्ति के साधन थोड़े से पूँजीपतियों के पास रहते हैं, अधिकांश लोग मजदूर होते हैं। पूँजीपति मजदूरों को उनकी पूरी आय नहीं देते हैं। जो “अतिरिक्त आय” होती है वह पूँजीपतियों की जेब में जाती है। यह अतिरिक्त आय मजदूरों के शोषण की द्योतक समझी जाती है। इस प्रकार पूँजीपति और मजदूरों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। मार्क्सवादियों के अनुसार इस वर्ग-संघर्ष का परिणाम पूँजीवाद का पतन और वर्गहीन समाज का जन्म होगा। इस वर्ग-हीन समाज में उत्पत्ति के सभी साधनों पर समाज का अधिकार होगा और समाज के ही द्वारा विविध उत्पादन क्षेत्रों में उनका उपयोग होगा।

मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में भविष्य वाणी की थी। उसके अनुसार भविष्य में पूँजीवादी देशों में उत्तरोत्तर भयंकर मन्दियाँ और आर्थिक संकट आते रहेंगे। इसका मुख्य कारण यह होगा कि एक ओर तो पूँजीवाद की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती जायगी और दूसरी ओर जन साधारण की उपभोग शक्ति सीमित रहेगी। यह भी एक प्रकार के संघर्ष का द्योतक है। इसके अतिरिक्त पूँजी के स्वामित्व में भी एकत्रीकरण और केन्द्रीकरण भी होता जायगा, अर्थात् पूँजीपतियों की संख्या घटती जायगी और बड़े बड़े पूँजीपतियों का एकाधिकार होने लगेगा। मजदूरों की

आर्थिक अवस्था गिरती जायगी। बेकारी में भी वृद्धि होगी और बेकार व्यक्तियों की सेना बढ़ती जायगी। पूँजीपतियों को अपने देश में पूँजी लगाने में अधिक लाभ न होगा, अतएव वे अन्य देशों के बाजारों की ओर तार्केंगे। प्रत्येक पूँजीवादी देश अविकसित देशों को अपने प्रभुत्व में लाने का प्रयत्न करेगा, अपना माल वहाँ बेचेगा और वहाँ से कच्चा माल लायेगा। इस प्रकार पूँजीवादी साम्राज्य का अन्त होगा। इससे कुछ समय के लिए तो पूँजीवादी देशों का संकट टल जायगा। परन्तु बाद में इन साम्राज्यवादी देशों में ही आपस में प्रतियोगिता, संघर्ष और युद्ध होगा जिससे वे बरबाद होने लगेंगे। अन्ततोगत्वा इन युद्धों और अपकर्षों के परिणामस्वरूप पूँजीवाद का अन्तिम काल आ जायगा। इसी समय दबाई तथा सताई हुई जनता उठ खड़ी होगी, अपनी जन्जीरें तोड़ डालेगी और विद्रोह करके आर्थिक और राज्य की सत्ता अपने हाथ में ले लेगी।

मार्क्स की भविष्य-वाणी कहाँ तक ठीक उतरेगी इसके सम्बन्ध में अभी कुछ कहना कठिन है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को विशिष्ट स्थान प्राप्त कराने में मार्क्स का बहुत बड़ा योग रहा है। सभी समाजवादी मार्क्स के लेखों से ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं। यद्यपि मार्क्स ने विस्तारपूर्वक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखा का वर्णन नहीं किया है, तथापि जिन देशों में, विशेषकर रूस में, यह व्यवस्था पायी जाती है उनमें मार्क्स के सिद्धान्त ही आधारभूत माने जाते हैं।

समाजवादी व्यवस्था की विशेषताएँ ✓

अब हम यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की क्या विशेषताएँ हैं, जो इसको पूँजीवाद से पृथक् करती है और यह व्यवस्था किस प्रकार आर्थिक प्रश्नों का उत्तर देती है और कार्यान्वित होती है। जैसा कि हम एक पिछले अध्याय में कह आये हैं, समाजवादी आर्थिक पद्धति में मुख्य बात यह है कि उसके अन्तर्गत भूमि, पूँजी, उपकरण इत्यादि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो जाता है, अर्थात् उत्पादन

के साधन (केवल श्रम को छोड़कर) निजी सम्पत्ति नहीं रहते हैं। इन पर समाज का आधिपत्य रहता है, अतएव समाज द्वारा ही इस बात का निश्चय होता है कि इन साधनों का उपयोग किस प्रकार से किया जाय। अर्थात् इस अर्थ-व्यवस्था में उद्योग की स्वतन्त्रता नहीं रहती है। कौन कौन सी वस्तुएँ किस किस मात्रा में उत्पन्न की जायँ इसका निर्णय केन्द्रीय योजना समिति द्वारा किया जाता है। इस निर्णय के कार्य में उपभोक्ताओं, मूल्य-लागत सम्बन्धों, बाजार और प्रतियोगिता को वह स्थान प्राप्त नहीं है जो इनको पूंजीवादी व्यवस्था में प्राप्त है।

समाजवादी व्यवस्था में भी मूल समस्या यही है कि आवश्यकताओं की तुलना में आर्थिक साधन सीमित है। अतएव सभी वस्तुएँ और सेवाएँ इतनी मात्रा में उत्पन्न नहीं की जा सकती है कि सभी व्यक्तियों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। अर्थात् यह आर्थिक निर्णय करने की आवश्यकता पड़ती है कि इन सीमित साधनों का भिन्न भिन्न उद्योग-धन्धों में किस प्रकार वितरण किया जाय। हमने देखा कि स्वतन्त्र उद्योग पद्धति में यह निर्णय भिन्न भिन्न उत्पादक करते हैं और इस निर्णय को करने में उनको उपभोक्ताओं की माँग की तीव्रता, बाजार, मूल्यों के सम्बन्ध, लागत व्यय इत्यादि से सहायता मिलती है। परन्तु समाजवादी पद्धति में उत्पादन के साधन व्यक्ति विशेषों के पास तो होते नहीं हैं। अतएव भिन्न भिन्न उत्पादकों का आर्थिक निर्णय नहीं करने पड़ते हैं। उत्पादन के साधनों पर सारे समाज का सामूहिक रूप में अधिकार रहता है। अतएव समाज के प्रतिनिधियों द्वारा ही—चाहे वह एक व्यक्ति हो, अथवा कोई सभा और समिति हो—आर्थिक निर्णय किये जाते हैं। इस अर्थ-व्यवस्था का संचालन एक सर्वांगीण आयोजना के अनुसार होता है, जिसका निर्माण क उच्च आर्थिक समिति द्वारा होता है।

समाजवाद में आर्थिक नियोजन ✓

यह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि आर्थिक साधनों पर समाज

का आधिपत्य है परन्तु इनकी सहायता से जिन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है वे मुख्यतः व्यक्तियों और परिवारों के उपभोग के लिए होती हैं। निश्चय ही कुछ वस्तुएँ और सेवाएँ सार्वजनिक उपभोग की भी होती हैं और कुछ उत्पादक वस्तुएँ भी होती हैं। योजनाधिकारियों के सामने यह एक महत्वपूर्ण समस्या होती है कि किस प्रकार उपलब्ध आर्थिक साधनों का भिन्न भिन्न वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में उपयोग किया जाय। इस प्रकार के निर्णय में किन बातों को ध्यान में रखा जाय, किससे परामर्श किया जाय और किस प्रकार निर्णयों को कार्यान्वित किया जाय इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं।

इस सन्दर्भ में हम एक ऐसे परिवार का उदाहरण लेते हैं जिसके पास अपने ही उत्पादन के साधन हैं और वह अपनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनका उपयोग करता है। जितने भी आर्थिक निर्णय हैं वे सभी परिवार के कर्त्ता द्वारा किये जाते हैं और परिवार को मान्य होते हैं। कर्त्ता के सामने यह समस्या होगी कि उसके आर्थिक साधन परिवार के सभी व्यक्तियों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपर्याप्त है। अतएव कुछ व्यक्तियों की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पायेगी। कुछ आवश्यकताएँ परिवार की सामूहिक रूप की होंगी और कुछ व्यक्तिगत होंगी। कर्त्ता को इन सभी प्रकार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनको प्राथमिकता के आधार पर व्यवस्थित करना पड़ेगा। कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होंगी जिनकी पूर्ति करना अनिवार्य होगा। जैसे भोजन की आवश्यकता और कुछ ऐसी होंगी जिनको स्थगित किया जा सकता है। कुछ आवश्यकताएँ उत्पादक वस्तुओं की होंगी और कुछ उपभोग की वस्तुओं की। आवश्यकताओं की इस प्रकार की व्यवस्था करके अब कर्त्ता अपने साधनों का हिसाब लगायेगा। उसके पास विविध प्रकार के साधन विविध मात्रा में होंगे। उदाहरण के लिए उसको यह मालूम करना होगा कि उसके परिवार के कितने व्यक्ति काम धन्धों में लगाये जा सकते हैं। परिवार में बच्चे, बूढ़े, अपाहिज सभी तरह के व्यक्ति होते हैं और सभी तो काम

नहीं कर सकते हैं। उसके पाँस खेत हो सकते हैं, पशु हो सकते हैं, बीज, खाद, हल, बैल इत्यादि कृषि के उपकरण भी हो सकते हैं। यदि इस परिवार के लोग अपने लिए स्वयं वस्त्र, जूते इत्यादि अन्य वस्तुएँ भी बनाते हों तो इनके बनाने के उपकरण भी होंगे। अब कर्त्ता को इन विविध साधनों का विविध आवश्यकताओं से समन्वय करना है। वह एक सर्वांगीण योजना बनायेगा जिसके अन्तर्गत भिन्न भिन्न साधनों को भिन्न भिन्न धन्धों में लगाने की व्यवस्था होगी। यह सरल कार्य नहीं है। इसमें तकनीकी समस्याएँ भी रहती हैं और आर्थिक भी। उदाहरण के लिए खेत जोतने के लिए हल, बैल और हलवाहे का एक तकनीकी सम्बन्ध है। खेत में कितने मजदूर लगाये जायँ, कितनी बार उसको जोता जाय, कितनी खाद दी जाय, कितना पानी दिया जाय इस प्रकार के प्रश्न प्रधान रूप में आर्थिक हैं। अर्थात् कर्त्ता को साधन भिन्न भिन्न अनुपात में लगाने में कुछ अंश तक स्वतन्त्रता रहती है। स्पष्ट है कि कर्त्ता इनको इस अनुपात में लगायेगा जिससे उसको कम से कम लागत में अधिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त हो। हो सकता है कि इन निर्णयों को करने में कर्त्ता परिवार के अन्य व्यक्तियों से भी सलाह ले, परन्तु अन्तिम निर्णय उसी को करना है। क्या परिवार के हित में है और क्या नहीं है यह निश्चय करना उसी का उत्तरदायित्व है। उत्पादित वस्तुओं का वितरण भी उसी पर निर्भर है।

अब यदि समाज को एक बड़ा परिवार मान लिया जाय तो लगभग उसी प्रकार से आर्थिक निर्णय किये जायेंगे, जिस प्रकार कर्त्ता ने किये थे। अन्तर इतना है कि परिवार एक छोटी इकाई है और कर्त्ता निजी देख-रेख और नियन्त्रण में अपना उत्पादन, वितरण इत्यादि आर्थिक कार्यों का सम्पादन सुगमता से कर सकता है। परन्तु समाज तो एक बहुत बड़ी इकाई है, अतएव उसके अन्तर्गत आर्थिक कार्य भी अधिक गहन और दुरूह होते हैं। आधुनिक काल की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के सम्पादन के लिए मुद्रा और बाजार की भी आवश्यकता तो पड़ती ही है, क्योंकि बिना इनकी सहायता के विनिमय और वितरण इत्यादि कार्य सुचारु रूप से चल नहीं

सकते हैं। यह ठीक है कि बाजार, मुद्रा और मौद्रिक मूल्यों को इस पद्धति में वह स्थान प्राप्त नहीं है जो पूँजीवादी पद्धति के अन्तर्गत प्राप्त है।

नियोजन समिति

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की योजना का निर्माण करने तथा उसको कार्यान्वित कराने के लिए कर्त्ता के स्थान पर एक सार्वभौम नियोजन समिति रहती है। नियोजन समिति का एक प्रमुख कार्य यह है कि वह सभी प्रकार के आर्थिक साधनों का सर्वेक्षण करे। विविध प्रकार के साधनों की मात्रा का पता लगाना ही नहीं परन्तु उनकी कार्यक्षमता और उत्पादन शक्ति का भी अनुमान करना पड़ता है। दूसरा प्रमुख कार्य समिति के सामने यह होता है कि वह समाज की आवश्यकताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करे। इसके बाद तीसरा कार्य साधनों और आवश्यकताओं के बीच सामञ्जस्य लाना है। क्योंकि समाज की सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन अपर्याप्त रहते हैं अतएव इस समिति को यह भी निश्चय करना पड़ता है कि किन किन आवश्यकताओं की कहाँ तक पूर्ति की जाय। अर्थात् समिति को आवश्यकताओं की प्राथमिकता का क्रम भी निश्चित करना पड़ता है। फिर इसी क्रम के अनुसार उत्पादन कार्य को कार्यान्वित करवाना पड़ता है।

ये सभी कार्य बहुत कठिन हैं। जहाँ तक साधनों के सर्वेक्षण का प्रश्न है उसके लिए परिगणना का प्रबन्ध करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए यदि प्राकृतिक साधनों को लिया जाय तो उनमें एक विशिष्ट साधन भूमि है। समिति को यह मालूम करना पड़ेगा कि समाज के पास कुल कितनी भूमि है और वह जलवायु, उर्वरता, निकटता इत्यादि के अनुसार किन किन कार्यों के लिए उपयुक्त है। कुछ भूमि कृषि कार्य के लिए उपयोगी हो सकती है और उसमें भी कुछ एक प्रकार की कृषि-वस्तु के लिए और कुछ दूसरे प्रकार की। इसी प्रकार खानों, खनिज पदार्थों, वन-सम्पत्ति, जल-प्रपातों इत्यादि प्राकृतिक साधनों का भी पता लगाना पड़ता है। श्रम के सम्बन्ध

में यह मालूम करना पड़ता है कि देश में कितने मनुष्य हैं, कितने स्त्री-पुरुष किस किस अवस्था के और किस योग्यता के हैं, क्या क्या काम सीखे हुए हैं, कितने शहरो में रहते हैं और कितने गाँवों में, इत्यादि। पूँजी के सम्बन्ध में भी यह मालूम करना होता है कि कितनी पूँजी किस किस रूप में प्राप्त है अर्थात् कितने कल-कारखाने हैं, कितनी मशीनें आदि उत्पत्ति के उपकरण उपलब्ध है। इस प्रकार परिगणना द्वारा सभी साधनों के सम्बन्ध में आँकड़े प्राप्त करने पड़ते हैं। एक सांगोपांग नियोजित आर्थिक पद्धति में आँकड़ों का महत्वपूर्ण स्थान है। विश्वसनीय आँकड़ों को प्राप्त करने के लिए समिति को विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

जहाँ तक समाज की आवश्यकताओं का प्रश्न है इनमें कुछ तो समाज की सामूहिक आवश्यकताएँ होती हैं और कुछ व्यक्तिगत। पूँजीवाद में भी कुछ सामूहिक आवश्यकताएँ होती हैं और इन आवश्यकताओं की कहाँ तक और किस प्रकार पूर्ति की जाय इसका निर्णय राज्य द्वारा किया जाता है। समाजवाद में भी राज्य के प्रतिनिधि के रूप में नियोजन समिति इस कार्य का सम्पादन करती है। अन्तर केवल इतना है कि समाजवादी पद्धति में इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो साधन चाहिए और जिन जिन वस्तुओं अथवा सेवाओं का उत्पादन होता है, वह सर्वांगीण योजना का अन्तरंग भाग होता है। पूँजीवाद में कोई इस प्रकार की योजना तो नहीं होती है, अतएव सामूहिक वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन क्षेत्र के, अन्य उत्पादन क्षेत्रों के साथ सामञ्जस्य का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता है।

व्यक्तिगत आवश्यकताओं में से किन किन की और किस अंश में पूर्ति की जाय इस समस्या का समाधान पूँजीवादी आर्थिक पद्धति में अप्रत्यक्ष रूप में होता है। उपभोक्ताओं को जिन वस्तुओं अथवा सेवाओं की आवश्यकता होती है उनकी सूचना वे उत्पादकों को माँग, मूल्य और बाजार द्वारा देते रहते हैं और उत्पादक आर्थिक साधनों द्वारा इन वस्तुओं का माँग के अनुसार उत्पादन करते रहते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के साधन

भिन्न भिन्न उद्योग धन्वों में लग जाते हैं। समाजवादी नियोजित अर्थ व्यवस्था में व्यक्तिगत आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन इस आधार पर नहीं होता है। एक आदर्श समाजवादी पद्धति में व्यक्तियों की आवश्यकताओंका निर्णय भी राज्य अथवा उसकी समिति द्वारा ही होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से समिति ही इस बात का निश्चय करेगी कि कौन कौन सी वस्तुएँ किस किस परिमाण में उत्पन्न की जायँ। इसी के अनुसार भिन्न भिन्न उद्योग धन्वों में साधनों का भी वितरण होगा। समिति इस बात का भी निर्णय करेगी कि कितने साधन उत्पादक वस्तुओं के निर्माण में और कितने साधन उपभोग की वस्तुओं के निर्माण में लगाये जायँ।

एक छोटे से समाज में, जिसकी आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हों, शायद इस विधि से उत्पादन और साधनों के वितरण का काम चल सकता है। परन्तु एक बड़े समाज में, जिसमें लाखों करोड़ों व्यक्ति हों और जब कि आवश्यकताओं की संख्या बहुत बढ़ गयी हो, यह विधि व्यावहारिक नहीं हो सकती है। आधुनिक समाजवादी व्यवस्था में भी उपभोक्ताओं को उनकी आय द्रव्य के रूप में दी जाती है और उनको स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपनी आय का उपयोग जिस प्रकार चाहें करें अर्थात् जिन वस्तुओं को चाहें खरीदें। इस विधि को कार्यान्वित करने के लिए बाजार, दुकान और मूल्यों का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी इन संस्थाओं की आवश्यकता होती है यद्यपि इनका कार्य बिल्कुल वैसा ही नहीं होता जैसा कि पूँजीवादी व्यवस्था में होता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मूल्यों का निर्धारण वस्तुओं और सेवाओं की माँग और पूर्ति के आधार पर होता है और इनमें बदलाव होने पर मूल्यों में बदलाव हो जाता है। इसके फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन और साधनों के वितरण में बदलाव हो जाता है। परन्तु समाजवादी व्यवस्था में वस्तुओं का मूल्य इस प्रकार नहीं बदलता है और न ही मूल्यों के बदलाव-बदलाव का उत्पादन-क्रिया पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य का स्थान

समाजवादी प्रथा में वस्तुओं का मूल्य योजनाधिकारियों द्वारा निर्धारित किया जाता है और वही इसको बदल भी सकते हैं। एक सर्वांगीण नियोजित अर्थ-पद्धति में किसी भी वस्तु का मूल्य निर्धारित करने में योजना-अधिकारियों को अर्थ-तन्त्र के सभी अवयवों को और उनकी क्रिया और प्रतिक्रिया को ध्यान में रखना पड़ता है। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में मूल्य निर्धारित करना बहुत कठिन कार्य है। मूल्य को निर्धारित करने में यह ध्यान में रखना पड़ता है कि इससे क्या क्या काम लेने हैं। किसी भी वस्तु के मूल्य का स्तर योजनाधिकारी इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं कि उससे केवल लागत-व्यय (वह भी नियोजित ही रहता है) वसूल हो सके, अथवा उससे लागत-व्यय के अतिरिक्त कुछ “लाभ” भी हो जो राज्य की आय बढ़ाये, अर्थात् लागत-व्यय में एक प्रकार का कर भी जोड़ दिया जाय जिसको मूल्य द्वारा वसूल किया जाय।

मूल्यों द्वारा किसी वस्तु की मांग और पूर्ति में साम्य भी लाया जा सकता है। यदि किसी वस्तु की मांग उसकी पूर्ति से बहुत अधिक हो तो उस वस्तु को बेचनेवाली दुकानों में क्रेताओं की भीड़ देखी जायगी। इस भीड़ को छांटने का एक उपाय यह है कि उस वस्तु के मूल्य में इतनी मात्रा में वृद्धि कर दी जाय जिससे कि मांग और पूर्ति में साम्य हो जाय। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु की पूर्ति उसकी मांग से बहुत अधिक हो तो वह वस्तु बड़े परिमाण में दुकानों में पड़ी रहेगी। उसकी निकासी का एक उपाय यह है कि उसके मूल्य में इतनी कमी कर दी जाय कि वह सब की सब बिक जाय। इस प्रकार नियोजनाधिकारी वस्तुओं के मूल्यों में बदलाव करके उनकी मांग और पूर्ति में साम्य ला सकते हैं।

इसके अतिरिक्त निर्धारित मूल्यों से संलग्न मांग की मात्राओं का अध्ययन करने से इस बात का भी पता चल जाता है कि इन वस्तुओं के उत्पादन में साधन उचित मात्राओं में लगाये गये हैं या नहीं। यदि किसी

वस्तु के निर्धारित मूल्य पर उपभोक्ताओं की माँग असन्तुष्ट रहती है तो इसका आशय यह हुआ कि इस उद्योग में पर्याप्त साधन नहीं लगाये गये हैं और यदि किसी वस्तु के निर्धारित मूल्य पर वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में बिक नहीं रही हैं तो इसका आशय यह हुआ कि इस उद्योग में आवश्यकता से अधिक साधन लगा दिये गये हैं। ऐसी अवस्था में भविष्य में इन वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा में यथोचित बदलाव करने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार मूल्यों की सहायता से यह मालूम किया जा सकता है कि साधनों के भिन्न भिन्न उद्योग-धन्धों में वितरण करने में उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से भूल तो नहीं हो गयी। इस प्रकरण में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में भी कुछ अंश में उपभोक्ताओं द्वारा साधनों का वितरण प्रभावित किया जा सकता है, अर्थात् योजनाधिकारी उनकी माँगों को ध्यान में रखकर आर्थिक योजना में यथायोग्य परिवर्तन करना स्वीकार कर सकते हैं। व्यावहारिक रूप में योजनाधिकारी उपभोक्ताओं की इस प्रकार व्यक्त माँग को अवश्य ही ध्यान में रखते हैं।

योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में मूल्यों का उपयोग किसी वस्तु के उपभोग के नियंत्रण करने में भी किया जाता है। यदि किसी वस्तु के उपभोग में वृद्धि करना समाज के हित में समझा जाय तो उसके मूल्य में पर्याप्त कमी कर उसकी माँग में वृद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु का उपभोग समाज के हित में न समझा जाय तो उसके मूल्य में अत्यधिक वृद्धि की जा सकती है। यह ठीक है कि योजनाधिकारी इस उद्देश्य की पूर्ति उन वस्तुओं के उत्पादन का नियंत्रण करके भी कर सकते हैं। परन्तु मूल्यों द्वारा भी यह कार्य सम्पादित हो सकता है।

यदि हम मजदूरी को भी मूल्य मान लें (जैसा कि वह वास्तव में है भी, अर्थात् वह श्रम का मूल्य है) तो इस मूल्य में बदलाव करके भी कुछ सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। उदाहरणार्थ यदि सरकार चाहती है कि अन्य श्रमिकों की तुलना में वैज्ञानिकों का जीवन-स्तर अधिक ऊँचा हो तो उनके पारिश्रमिक में यथोचित मात्रा में वृद्धि की जा सकती है।

अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों में काम करनेवाले श्रमजीवियों के आर्थिक स्तर में पारिश्रमिकों द्वारा भिन्नता लायी जा सकती है। समाजवादी अर्थ-पद्धति में पारिश्रमिक की दर प्रतियोगिता द्वारा निर्धारित नहीं होती है। इसका निर्णय भी योजनाधिकारी ही करते हैं। अतएव वे पारिश्रमिक का उपयोग इस दिशा में भी कर सकते हैं।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन

स्पष्ट है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में कौन-कौन सी वस्तुएँ और सेवाएँ किस-किस मात्रा में कहाँ कब और किस प्रकार उत्पादित की जायगीं, इन सभी बातों का निर्णय राज्य द्वारा अथवा उसकी सर्वोच्च आर्थिक नियोजन समिति द्वारा किया जायगा। क्योंकि इस प्रकार के निर्णयों की संख्या बहुत अधिक होगी और इनमें न केवल आर्थिक परन्तु तकनीकी समस्याएँ भी संलग्न होगी, अतएव यह काम किसी व्यक्ति विशेष अथवा समिति विशेष के सामर्थ्य का नहीं है। अतएव योजना-समिति को इस कार्य के लिए अनेक उपसमितियाँ स्थापित करनी पड़ेंगी जो अपने विशिष्ट क्षेत्र का अध्ययन करके तत्सम्बन्धी सुझाव देंगी। जब सभी उपसमितियों की रिपोर्ट नियोजन-समिति को प्राप्त हो जायगी तब आर्थिक साधनों को दृष्टिकोण में रखते हुए और सामाजिक उद्देश्यों को भी ध्यान में रखते हुए इन सभी का सामञ्जस्य करना पड़ेगा। यह सब से कठिन कार्य है। पूंजीवाद में इस प्रकार का सामञ्जस्य किसी केन्द्रीय अधिकारी द्वारा नहीं होता है। यह बाजार और मूल्यों की क्रिया और प्रतिक्रिया द्वारा होता रहता है। परन्तु समाजवादी सागोपांग नियोजित अर्थ-व्यवस्था में इस प्रकार का साम्य और सामञ्जस्य योजना को कार्यान्वित करने के पूर्व ही लाना पड़ता है, भले ही बाद में इसमें अनुभव के फलस्वरूप कुछ परिवर्तन करना पड़े। इस कार्य की दुरुहता एक साधारण उदाहरण द्वारा दिखायी जा सकती है। मान लीजिए कि इस बात का निर्णय करना है कि प्रति वर्ष कितने इस्पात और कितने कोयले का उत्पादन किया जाय। कोयला उत्पादक-वस्तु भी है

और उपभोग-वस्तु भी है। इसका उपयोग अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए कारखानों के अतिरिक्त उपभोक्ताओं के घरों में भी होता है। इस्पात का उपयोग अनेक प्रकार के उत्पादक उपकरणों (मशीन इत्यादि) तथा उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में भी होता है। इस उत्पादन का कुछ भाग पुराने उपकरणों की मरम्मत और उनके नवीनीकरण के काम में भी आयेगा। इसके अतिरिक्त कोयले के उत्पादन में इस्पात की और इस्पात के उत्पादन में कोयले की भी आवश्यकता पड़ती है। इनमें किसी के भी उत्पादन में परिवर्तन करने से दूसरे के उत्पादन में भी परिवर्तन करना पड़ता है। इसमें कुछ सम्बन्ध तो तकनीकी होते हैं, अर्थात् यदि इस्पात का उत्पादन बढ़ाना हो तो तकनीकी कारणों से कुछ न्यूनतम कोयले की मात्रा बढ़ानी ही पड़ेगी। परन्तु इसका आर्थिक रूप भी है। किसी भी मात्रा में इस्पात के उत्पादन के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता पड़ती है। इन साधनों को किस अनुपात में लिया जाय यह एक उत्पादन का महत्वपूर्ण प्रश्न है। अनेक सम्भावित अनुपातों में कोई ऐसा अनुपात होगा जो सबसे अधिक उपयुक्त होगा। पूँजीवाद में इस उपयुक्तता का अनुपात न्यूनतम लागत-व्यय द्वारा किया जाता है। प्रत्येक प्रकार के व्यय की सूचना द्रव्य के रूप में मिल जाती है और इसके आधार पर भिन्न-भिन्न अनुपात संबंधी लागत-व्यय का अनुमान लगाकर न्यूनतम व्यय वाला अनुपात स्वीकार किया जा सकता है। समाजवादी नियोजित अर्थ-व्यवस्था में इस प्रकार की मूल्य सम्बन्धी सभी सुविधाएँ प्राप्त नहीं रहती हैं। उदाहरण के लिए मशीन इत्यादि उपकरण समाज की संपत्ति होते हैं। इनका बाजार में क्रय-विक्रय नहीं होता है। ये कारखानों को सीधे उपलब्ध किये जाते हैं। अतएव इनके कोई मूल्य निर्धारण करने की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए मूल्यों के सम्बन्धों द्वारा साधनों के विशिष्ट अनुपात को ज्ञात करना नियोजित अर्थ-व्यवस्था में दुष्कर हो जाता है। परन्तु किसी न किसी अनुपात को निश्चित करना तो आवश्यक ही है और यह अनुपात भी न्यूनतम लागत (सामाजिक लागत) वाला

होना चाहिए। क्या समाजवादी नियोजित व्यवस्था में इस प्रकार का हिसाब-किताब हो सकता है ? यह एक बहुत विवादग्रस्त विषय है जिसकी गहराई में हम इस पुस्तक में नहीं जाना चाहते हैं। इतना लिखना पर्याप्त होगा कि लुडविग, वौन, मीजेज इत्यादि अनेक अर्थ-शास्त्रियों के मत में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में इस प्रकार का आर्थिक गणित हो ही नहीं सकता। परन्तु डिकिन्सन आदि अर्थ-शास्त्रियों के मतानुसार गणित की क्रिया हो सकती है, यद्यपि यह क्रिया बिल्कुल उसी प्रकार से नहीं होगी जिस प्रकार से पूंजीवाद में होती है। इस विवाद का वर्तमान रूप यह है कि गणित हो तो सकता है परन्तु दुरूहता के साथ।

आर्थिक निर्णय में कठिनता

अब हम फिर अपने कोयले और इस्पात के उदाहरण पर वापस आते हैं, जिसके विश्लेषण के अन्तर्गत हमने कुछ आधारभूत समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि नियोजनाधिकारियों को यह निर्णय करने में कि किसी वर्ष में कितने इस्पात और कितने कोयले का उत्पादन किया जाय, कितनी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अर्थ-तन्त्र में तो हजारों-लाखों वस्तुओं के उत्पादन के सम्बन्ध में निर्णय करना है। एक निर्णय दूसरे निर्णय से सम्बन्धित है। इन सभी निर्णयों को एक बृहत् योजना के भीतर बैठाना है। गणित की भाषा में यह अनेक समीकरणों को एक साथ हल करने का प्रश्न है। कितना कठिन और दुरूह कार्य है। परन्तु येनकेन-प्रकारेण निर्णय तो लेना ही है और यह उत्तरदायित्व अन्ततोगत्वा सर्वोच्च योजना-समिति के ऊपर ही है। निर्णय करने के उपरान्त इनको भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धों की इकाइयों द्वारा सम्पादित करवाना है। यह कार्य इन इकाइयों के मैनेजरोں और अन्य अधिकारियों द्वारा सम्पन्न होता है। इस प्रकरण में पाठकों का ध्यान पूंजीवादी और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की एक भिन्नता की ओर गया होगा। वह भिन्नता यह है कि पूंजीवाद में उत्पादन की कोई फर्म किसी वस्तु को

किस मात्रा में और किस विधि से उत्पन्न करे इसका निर्णय उस फर्म के स्वामी करते हैं, परन्तु समाजवादी व्यवस्था में यह निर्णय योजनाधिकारियों द्वारा सम्पूर्ण योजना के अन्तर्गत किया जाता है और इसको कार्यान्वित करने के आदेश उत्पादन इकाइयों को दे दिये जाते हैं। इन इकाइयों के मँनेजरोँ को आदेशानुसार ही कार्य करना पड़ता है। यद्यपि उत्पादकता बढ़ाने में और नियोजित लागत-व्यय से कम लागत-व्यय में उत्पादन बढ़ाने के पक्ष में उनको स्वतन्त्रता रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न, अर्थात् सीमित आर्थिक साधनों से भिन्न-भिन्न उद्योग धन्धों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का भिन्न-भिन्न मात्राओं में उत्पादन करना योजना द्वारा सम्पादित किया जाता है। योजना के उद्देश्य समाज द्वारा अर्थात् उसका प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं और इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर एक सर्वांगीण योजना बनायी जाती है और कार्यान्वित की जाती है। उद्देश्यों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप योजना में भी परिवर्तन करना पड़ता है। उदाहरण के लिए यदि कोई समाज अपने को सुरक्षा की दृष्टि से मजबूत बनाना चाहता है तो उसके साधनों का एक बड़ा भाग बन्दूकों, मशीनगनों, बमों, जल, स्थल, नभ सेनाओं इत्यादि में लग जायगा और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कम साधन बचेगे। और यदि समाज का उद्देश्य मशीन, ट्रैक्टर इत्यादि उत्पादक उपकरणों का अधिक से अधिक मात्रा में उत्पादन करना हो तो उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन के लिए कम साधन बचेगे। यदि रहन-सहन का स्तर शीघ्रता से ऊँचा करना हो तो उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप उत्पादक उपकरणों के लिए कम साधन मिल सकेंगे।

योजना की रूपरेखा न केवल उद्देश्यों के आधार पर ही बनेगी परन्तु तकनीकी ज्ञान, उत्पादन विधि में परिवर्तन, अनुसन्धान और अन्वेषण इत्यादि के फलस्वरूप भी उसमें बदलाव करना पड़ेगा। यह ठीक है कि एक बार जो योजना बन गयी उसमें जल्दी जल्दी बदलाव नहीं किया जायगा।

परन्तु परिवर्तनशील युग में योजना में लचीलापन होना आवश्यक है। योजनाधिकारी भी धीरे धीरे अपने अनुभव के आधार पर और विविध स्तरों पर योजना की प्रतिक्रिया, आलोचना इत्यादि के आधार पर उसमें सुधार करते रहेगे।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में आय का वितरण

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आय के प्रधान रूप मजदूरी, वेतन,^१ लगान, ब्याज और लाभ बताये गये थे। समाजवादी व्यवस्था में भूमि तथा उत्पादक उपकरणों का स्वामित्व तो समाज का होता है अतएव इनकी आय सम्पूर्ण समाज की आय होगी न कि व्यक्तिगत आय। यह सम्भव है कि इस प्रकार की व्यवस्था के कुछ अपवादस्वरूप छोटी मात्रा में कुछ भूमि अथवा उत्पादक-पूँजी व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में भी हो, जिससे संलग्न लगान तथा लाभ उसके मालिकों को प्राप्त हो। यह भी सम्भव है कि व्यक्तिगत आय के कुछ भाग को लोग बैंकों में जमा करें अथवा सरकारी प्रतिभूतियों में लगायें, जिसके फलस्वरूप उनको ब्याज की प्राप्ति हो। परन्तु इस प्रकार की आय कुल आय का एक नगण्य भाग ही होगी। पूँजीवादी देशों में निजी सम्पत्ति की संस्था के कारण इससे प्राप्त आय बहुत बड़ी मात्रा में रहती है।

स्पष्ट है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत आय का प्रधान रूप पारिश्रमिक (वेतन-मजदूरी) ही होगा और भिन्न भिन्न व्यक्तियों की आय में जो कुछ भी असमानता होगी वह प्रधानतया पारिश्रमिक की विभिन्नता के फलस्वरूप ही होगी। अब प्रश्न यह है कि समाजवादी

^१ मजदूरी और वेतन में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। दोनों का स्रोत श्रम है। परन्तु चलन में निम्नश्रेणी के शारीरिक परिश्रम से उपलब्ध आय को 'मजदूरी' और उच्चश्रेणी के मानसिक परिश्रम से उपलब्ध आय को 'वेतन' कहते हैं। उदाहरणार्थ रेल के कुली की आय को मजदूरी और स्टेशन मास्टर की आय को वेतन कहते हैं।

अर्थ-व्यवस्था में पारिश्रमिक किस प्रकार निर्धारित किया जायगा । पूँजीवादी व्यवस्था में जिस प्रकार वस्तुओं के बाजार होते हैं जहाँ उनके मूल्य निर्धारित होते हैं, उसी प्रकार साधनों के भी बाजार होते हैं जहाँ उनके भी मूल्य निर्धारित होते हैं । उदाहरण के लिए किसी प्रकार के श्रम का मूल्य (जो कि उसके स्वामी की आय होती है) उस श्रम की माँग और पूर्ति तथा उनके क्रेताओं और विक्रेताओं के लेन-देन के फलस्वरूप निर्धारित होता है । परन्तु समाजवाजी व्यवस्था में श्रम के मूल्य अर्थात् पारिश्रमिक का निर्धारण भी योजनाधिकारी ही करते हैं ।

पारिश्रमिक

पारिश्रमिक की मात्रा क्या हो इसमें विभिन्न मत हैं । एक मत यह है कि सभी प्रकार के श्रमिकों को समान पारिश्रमिक मिलना चाहिए । परन्तु विचार करने पर यह मत न्यायोचित नहीं मालूम पड़ता है । भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योगों में भिन्न-भिन्न स्तर की योग्यता तथा मानसिक और शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता होती है । कुछ उद्यमों में स्वास्थ्य और जीवन का भी खतरा रहता है । कुछ उद्यमों में कार्य सरल और सुखदायक होता है परन्तु कुछ उद्यमों में कठिन और कष्ट-दायक होता है । अतएव भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करनेवालों के लिए समान पारिश्रमिक न्याययुक्त प्रतीत नहीं होता है । इसके अतिरिक्त यदि सभी प्रकार के उद्यमों में एक-सा ही पारिश्रमिक हो तो कठिन और कष्टसाध्य कार्यों के लिए श्रमिक मिलना कठिन हो जायगा । सभी व्यक्ति सरल और सुखदायक काम करना ही पसन्द करेंगे । फलस्वरूप अर्थपद्धति सुचारु रूप से कार्यान्वित न हो सकेगी; यदि श्रमिकों को योजनानुसार कार्य करने के लिए बाध्य न किया जाय । श्रमिकों को किसी भी कार्य के लिए बाध्य करना तानाशाही समाजवाद में सैद्धान्तिक रूप में असम्भव तो नहीं है परन्तु व्यवहार में ऐसा करना कठिन होगा । श्रमिकों को असन्तुष्ट रखकर तानाशाही कब तक चल सकेगी ।

कहने का मतलब यह है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी पारिश्रमिक में असमानता पायी जायगी। श्रमिकों की नैसर्गिक तथा उपार्जित योग्यता के अनुसार तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्पादन के कार्यों में उनकी देन के अनुसार उनके पारिश्रमिक में भी भिन्नता अवश्य होगी। वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में किस श्रमिक की कितनी देन है इसका हिसाब लगाना बहुत कठिन कार्य है। पहले तो यही विचारणीय है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति का सारा श्रेय श्रमिकों को ही नहीं दिया जा सकता है क्योंकि उसके उत्पादन में अन्य साधनों का भी योग रहता है। अतएव श्रम की देन के अनुपात में श्रमिकों का पारिश्रमिक निर्णय करना कठिन है। इस कार्य में कुछ सहायता सीमान्त-श्रम-उत्पादकता नियम से मिल सकती है अर्थात् किसी श्रमिक की सीमान्त इकाई की उत्पादकता के फलस्वरूप जो उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि होती है वही उसका पारिश्रमिक समझ लिया जाय। परन्तु इस प्रकरण में एक कठिनाई श्रम द्वारा उपलब्ध वस्तुओं का मूल्य मालूम करना है। इसी अध्याय के प्रारम्भ में हम बता चुके हैं कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं का मूल्य बाजार-पद्धति द्वारा निर्धारित नहीं होता है। इसको भी योजनाधिकारी ही निर्धारित करते हैं। अर्थात् यदि विभिन्न वस्तुओं के पारस्परिक मूल्यों के हिसाब से उनके उत्पादन में श्रमिकों की देन के अनुसार उनके पारिश्रमिकों को निर्धारित किया जाय तो इसका यही अभिप्राय हुआ कि योजनाधिकारी विविध वस्तुओं के मूल्यों के निर्धारण के अन्तर्गत ही पारिश्रमिक भी निर्धारित करते हैं। परन्तु एक कठिनाई यह है कि किसी भी वस्तु के उत्पादन में भिन्न-भिन्न योग्यता के श्रमिक काम करते हैं। यदि उस वस्तु का मूल्य निर्धारित कर भी दिया जाय तो भी उससे भिन्न-भिन्न श्रमिकों का पारिश्रमिक किस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ क्रय-विक्रय के लिए नहीं होती हैं। ऐसी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण की आवश्यकता तो नहीं होती है परन्तु पारिश्रमिक तो देना ही पड़ता है। इस प्रकार के विश्लेषण से यही परि-

णाम निकलता है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में पारिश्रमिकों की दरों को निर्धारित करने के लिए कोई सुगम विधि नहीं है (इसका यह मतलब नहीं है कि पूँजीवादी पद्धति में यह सुगम है)। नियोजनाधिकारियों को अनेक बातें ध्यान में रखकर ही भिन्न-भिन्न श्रमिकों का भिन्न-भिन्न रूप में पारिश्रमिक निर्धारित करना पड़ता है। निश्चित है कि विशेष नैसर्गिक तथा उपाजित योग्यता प्राप्त व्यक्तियों की संख्या साधारण स्तर के योग्यता वाले व्यक्तियों की संख्या से बहुत कम होगी। अतएव इन व्यक्तियों को उनके योग्य उद्यमों में आकर्षित करने के लिए अधिक वेतन भी देना पड़ेगा। कितना अधिक? यह तो इस बात पर निर्भर करेगा कि किस वेतन-स्तर पर पर्याप्त मात्रा में इस प्रकार के व्यक्ति आकर्षित किये जा सकेंगे। (यहाँ पर यह भी बता देना आवश्यक है कि सभी व्यक्तियों को किसी भी कार्य के लिए आकर्षित करने के निमित्त केवल मौद्रिक वेतन ही पर्याप्त आकर्षण नहीं है। वेतन के अतिरिक्त अनेक अमौद्रिक आकर्षण, जैसे कि नाम, यश, गौरव इत्यादि भी व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं। परन्तु मौद्रिक आय एक प्रधान आकर्षण है।)

कल्पना कीजिए कि प्रारम्भ में योजनाधिकारियों ने किसी अनुमान के आधार पर विभिन्न उद्योगों के लिए विभिन्न पारिश्रमिक निर्धारित कर दिये। यह भी मान लीजिए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी उद्यम में अपने श्रम को लगाने की स्वतन्त्रता है। अब यदि यह दिखाई पड़ता है कि निर्धारित पारिश्रमिकों पर कुछ उद्योगों में पर्याप्त श्रमिक नहीं आ रहे हैं तो उनको आकर्षित करने के लिए पारिश्रमिक में उपयुक्त वृद्धि करनी पड़ेगी। और यदि कुछ उद्यमों में आवश्यकता से अधिक प्रार्थी हैं तो उनमें पारिश्रमिक कम करना पड़ेगा। इस प्रकार अनुभव के आधार पर पारिश्रमिक की मात्राओं में परिवर्तन करके विभिन्न प्रकार के श्रमों और तत्सम्बन्धी पारिश्रमिकों का समन्वय किया जा सकता है।

पारिश्रमिकों की भिन्नता द्वारा विभिन्न प्रकार के श्रमिकों के जीवन-स्तर को भी प्रभावित किया जा सकता है। यदि समाज में वैज्ञानिकों,

इंजीनियरों, डाक्टरों और अन्वेषकों को सरकार उपभोग सम्बन्धी विशेष प्रकार की सुविधाएँ (जैसे मोटरकार, बँगला, टेलीविजन सेट) प्रदान करना चाहती हो तो उनके पारिश्रमिक में यथेष्ट मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार पारिश्रमिक के द्वारा इस उद्देश्य की भी पूर्ति की जा सकती है।

यदि किसी विशेष प्रकार के उद्यम में श्रमिकों की कमी अनुभव की जाती है तो यह आवश्यक नहीं है कि इस कमी को पूरा करने के लिए तत्सम्बन्धी पारिश्रमिक में ही वृद्धि की जाय। योजनाधिकारी इस कमी की पूर्ति इस कार्य के लिए अधिक व्यक्तियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था द्वारा भी कर सकते हैं। जहाँ तक उपार्जित योग्यता का प्रश्न है, वह प्रशिक्षण-क्रिया द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

ऐसा कहा और समझा जाता है कि यद्यपि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिगत आय में विभिन्नता तो अवश्य ही होगी परन्तु यह इतनी बड़ी मात्रा में नहीं होगी जितनी पूँजीवादी व्यवस्था में होती है। इसका एक प्रधान कारण तो उत्पादक सम्पत्ति में निजी स्वामित्व का न होना है। दूसरा कारण यह है कि इस व्यवस्था में शिक्षा इत्यादि द्वारा सभी व्यक्तियों को समान अवसर प्राप्त रहता है। अतएव श्रमिकों की उपार्जित उत्पादक शक्ति में भी बहुत अधिक भिन्नता नहीं रहती है। तीसरी बात यह है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था की मान्यताओं में समानता का विशेष स्थान है। परिणामस्वरूप न्यूनतम और अधिकतम आय में बहुत बड़ा अन्तर न होने की सम्भावना है।

आर्थिक प्रगति और अस्थिरता

पूँजीवादी पद्धति में एक बहुत बड़ा दोष उसकी अस्थिरता बतलायी जाती है—विशेष रूप में उस प्रकार की अस्थिरता जो आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष के चक्र से सम्बन्धित है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के पक्ष वालों का कहना है कि इस व्यवस्था में आर्थिक चक्र का कोई स्थान नहीं है।

क्योंकि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था योजनाबद्ध रहती है अतएव उसमें सभी साधनों का योजनानुसार कार्य निर्धारित रहता है। पूँजीवाद में उद्योग-स्वतन्त्रता के फलस्वरूप अर्थ-तन्त्र के विभिन्न अवयवों के सम्बन्धों में समय समय पर विषमता उत्पन्न हो जाती है। यही आर्थिक अस्थिरता का मुख्य कारण है जिसका एक विशिष्ट रूप आर्थिक मन्दी की अवस्था है जिसके अन्तर्गत अनेक आर्थिक साधनों में बेकारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सर्वांगीण नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सोच-समझकर अर्थ-तन्त्र के सभी अंगों और प्रत्यंगों में सामञ्जस्य स्थापन करने का प्रयत्न किया जाता है, अतएव साधनों की बेकारी का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता है। यदि योजना का निर्माण करने में भूल हो गयी हो अथवा योजनानुसार कार्य न हो पाया हो तो अवश्यमेव अस्थिरता का प्रादुर्भाव हो सकता है। परन्तु यह अस्थिरता अल्पकालीन होगी। भूले सुधार ली जायँगी और जिन कारणों से योजनानुसार कार्य करने में दिक्कतें हो रही हैं उनके निराकरण का प्रयत्न किया जायगा। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में अस्थिरता बिल्कुल होगी ही नहीं। परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि जिन कारणों से पूँजीवादी पद्धति में अस्थिरता उत्पन्न होती रहती है वे कारण समाजवादी पद्धति में नहीं पाये जाते।

जहाँ तक आर्थिक प्रगति का प्रश्न है, कुछ लेखकों के मत में आर्थिक प्रोत्साहनों के अभाव में समाजवादी व्यवस्था में प्रगति की गति मन्द रहेगी। पूँजीवाद में लाभ की आशा अर्थ-तन्त्र को विकास और प्रगति की ओर प्रेरित करती रहती है, बचत और पूँजीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। नये-नये आविष्कार, अनुसंधानों के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में निजी उद्योगों के अभाव में इस प्रकार की प्रेरणाएँ और प्रोत्साहन नहीं पाये जायँगे, अतएव आर्थिक प्रगति द्रुतगामी नहीं हो सकेगी। परन्तु इस प्रकार का तर्क असंगत प्रतीत होता है। लाभ तथा उसकी आशा ही आर्थिक प्रगति का आधार नहीं है। प्रगति के मूल आधार है विज्ञान और तकनीकी ज्ञान का विकास और इनका

व्यवहार में लाया जाना, उत्पादन के साधनों की कार्य-क्षमता और उत्पादकता में वृद्धि करना, और विशेष कर पूँजी की मात्रा में वृद्धि होना। पूँजीवादी व्यवस्था में भी इन्हीं उपकरणों द्वारा आर्थिक प्रगति हुई है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि ये उपकरण समाजवादी व्यवस्था में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त न हो सकें। अपितु योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में तो इन सब बातों का प्रबन्ध विशेष रूप से हो सकता है। योजनाधिकारी इसका निर्णय कर सकते हैं कि समाज के साधनों का कितना भाग उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में लगाया जाय और कितना पूँजी के रूप में उत्पादक उपकरणों के निर्माण में लगाया जाय। इस प्रकार पूँजी का संचय सुगमता से हो सकता है। विज्ञान और तकनीकी ज्ञान की वृद्धि के लिए भी योजना-नुसार पर्याप्त साधन लगाये जा सकते हैं। समाजवादी रूस का उदाहरण हमारे सामने है जहाँ इस पद्धति के अन्तर्गत तीन चार दशकों में ही बड़ी मात्रा में आर्थिक प्रगति हुई है।

श्रमिकों को प्रेरणा

कुछ लोग समझते हैं कि केन्द्र द्वारा आयोजित और निर्देशित उत्पादन क्षेत्रों के श्रमिक और मँनेजर उतनी लगन और उत्साह से काम नहीं करेंगे जितना वे स्वतन्त्र उद्योग वाली अर्थ-व्यवस्था में करते हैं। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में (आर्थिक) प्रेरक क्रियाशील नहीं रहते हैं। मँनेजरो को क्या पड़ी है कि वे अपने कारखानों की कार्य-क्षमता और उत्पादकता में वृद्धि करें और उत्पादन व्यय में कमी लायें, जब कि इसका “लाभ” उनको न मिलकर सारे समाज को प्राप्त होता है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। परिश्रम और लगन से कार्य करने के प्रेरक दो प्रकार के होते हैं—आर्थिक और अनार्थिक। आर्थिक प्रेरको में भी कुछ स्वीकारात्मक और कुछ निषेधात्मक होते हैं। स्वीकारात्मक प्रेरकों में प्रतिफल के अनुरूप पारिश्रमिक देना मुख्य है। अर्थात् जो श्रमिक किसी अवधि के भीतर अधिक उत्पादन करें उनको

पारिश्रमिक भी अधिक दिया जाना चाहिए। पारिश्रमिक देने की इस विधि से श्रमिक लोग मेहनत से काम करेंगे और उनकी उत्पादकता में भी वृद्धि होगी। आयोजित लाभ से अधिक लाभ दिखानेवाली उत्पादन इकाइयों के अतिरिक्त लाभ का कुछ भाग श्रमिकों को बोनस के रूप में देकर अथवा श्रमिकों के हित के कार्यों में लगाकर भी श्रमिकों को प्रेरणा दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त योग्य तथा परिश्रमी व्यक्तियों की पदोन्नति द्वारा भी प्रेरणा दी जा सकती है।

निषेधात्मक प्रेरक तत्वों द्वारा सुस्त, आलसी तथा कामचोर श्रमिकों पर जुर्माना किया जा सकता है, उनकी तरक्की रोकी जा सकती है, अपने पदों से निम्न स्तर पर उतारा जा सकता है तथा उनको अपने पदों से हटाया भी जा सकता है। यदि श्रमिकों को इसका निश्चय हो जाय कि ठीक से काम न करने से उनके विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही अवश्य की जायगी तो इस भय से भी वह ठीक ढंग से काम करने को बाध्य हो जायेंगे।

अनार्थिक प्रेरकों में कुछ इस प्रकार के हैं जो किसी भी व्यक्ति के उन नैसर्गिक गुणों के द्योतक हैं जिनकी प्रेरणा से उसको अच्छा काम करने में आनन्द होता है और वह अपनी अन्तरात्मा की सन्तुष्टि के लिए पूरी लगन से काम करता है। कुछ व्यक्ति साधुवाद के लिए भी मनोयोग से काम करते हैं। समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त करने की अभिलाषा भी एक प्रेरक तत्व है। इसके अतिरिक्त समाज निष्ठावान् और कार्य कुशल व्यक्तियों को उपाधियों द्वारा तथा पदकों द्वारा भी विभूषित कर सकता है। ये भी प्रेरक का कार्य करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में ऐसी कोई आशंका नहीं होनी चाहिए कि “लाभ” रूपी प्रेरक के अभाव में उत्पादन-कुशलता में कोई कमी आ जायगी।

योजना की सफलता

क्या यह आवश्यक है कि केन्द्रीय आयोजित और निर्देशित अर्थ-व्यवस्था अपने लक्ष्यों के प्राप्त करने में सफल हो ही जाय? शत-

प्रतिशत सफल होना अनिवार्य नहीं है। योजनाएँ भविष्य (निकट अथवा दूर) में कार्यान्वित की जाती हैं और भविष्य हमेशा अनिश्चित रहता है। अर्थ-तन्त्र के कुछ भाग, जैसे कृषि कार्य, प्रकृति के अधीन रहते हैं। यदि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओले, बाढ़ इत्यादि प्राकृतिक आपदाओं के कारण भूमि से उत्पादित अनाज और कच्चे माल की उत्पादन मात्रा में क्षति हो जाय तो फलस्वरूप योजना के अन्य भागों को भी क्षति पहुँचेगी और अनेक सम्बद्ध आयोजित लक्ष्यों की पूर्ति न हो पायेगी। इस प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं पर मनुष्य अभी तक नियंत्रण नहीं कर पाया है। इसी प्रकार यदि योजना की कार्यविधि में किसी देश पर आक्रमण हो जाय अथवा आक्रमण की शंका ही हो जाय तो भी पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति न हो सकेगी, क्योंकि अनेक साधनों को सुरक्षा तथा युद्ध सम्बन्धी उद्योगों में लगाना पड़ जायगा। आधुनिक काल के युद्ध और सुरक्षा के कार्यों में बहुत बड़ी मात्रा में नाना प्रकार के साधन लगते हैं। साधनों को शान्ति-कालीन धन्धों से निकालकर युद्ध-सम्बन्धी धन्धों में लगाने के फलस्वरूप योजना का स्वरूप ही बदल सकता है। इसके अतिरिक्त किसी भी योजना की सफलता बहुत अंश में भौतिक साधनों पर नहीं परन्तु मानसिक साधनों पर निर्भर रहती है। मनुष्यों में अपनी-अपनी बुद्धि, विचार, आशाएँ, निराशाएँ तथा अन्य भावनाएँ भी होती हैं। अतएव श्रमिकों पर उस प्रकार का नियन्त्रण नहीं हो सकता है जिस प्रकार उत्पादन के अन्य उपकरणों पर हो सकता है। कोई भी योजना श्रमिकों की हठधर्मी अथवा असहयोग के कारण असफल हो सकती है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी मनुष्य इस प्रकार का व्यवहार कर सकते हैं। यद्यपि तानाशाही राज्य में मनुष्यों की भावनाओं को कुचलकर उनके साथ दासों के समान व्यवहार किया जा सकता है, परन्तु आधुनिक काल में इस प्रकार की तानाशाही अधिक समय तक सफलतापूर्वक चल नहीं सकती है। अन्ततोगत्वा समाज के व्यक्तियों की भावनाओं, आशाओं और आकांक्षाओं का समुचित सम्मान करना ही पड़ता है।

अध्याय १०

रूस की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था

१९१७ की क्रान्ति

वर्तमान काल में यद्यपि चीन और पूर्वी यूरोप के अनेक देशों की अर्थ-व्यवस्था समाजवादी कही जाती है तथापि केवल रूस में ही यह व्यवस्था सबसे अधिक कार्यान्वित और विकसित हुई है। इस देश में भी यद्यपि अभी तक कुछ क्षेत्रों में समाजवादी प्रयोग अपनी पूर्णवस्था में नहीं पहुँच पाये हैं, परन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्था यहाँ पूरी तरह से स्वीकृत हो गयी है और पूर्ण उत्साह के साथ सम्पादित हो रही है।

१९१७ की क्रान्ति के पूर्व रूस की राज्य-सत्ता राजा के अधीन थी। क्रान्ति के समय निकोलस द्वितीय का राज्य था जिसको सिंहासन से उतरने को बाध्य होना पड़ा और राज्य-सत्ता बोलशेविक पार्टी के हाथ में आ गयी। यह पार्टी बाद में सोवियट सघ की कम्यूनिस्ट पार्टी बन गयी। इस पार्टी के राज्य सँभालने के बाद ही रूस में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। फरवरी १९१८ में भूमि का समाजीकरण हो गया अर्थात् भूमि का स्वामित्व समाज को प्राप्त हो गया। इसी प्रकार उद्योग-धन्धों के भौतिक उपकरण भी समाज की सम्पत्ति हो गये। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाएँ सार्वजनिक क्षेत्र में आ जाती हैं। रूस में उत्पादन और विनिमय सम्बन्धी कार्य कुछ अपवादों को छोड़कर या तो सीधे सरकार द्वारा सम्पादित होते हैं अथवा सरकार की अधीनता में और उसके नियंत्रण में होते हैं।

रूसी राज्य और अर्थव्यवस्था

रूस का विधान संघीय है। इसको मजदूरों और किसानों का

समाजवादी राज्य कहा जाता है जिसकी आधारभूत राज्य-सत्ता श्रमिकों में उनके संघों द्वारा निहित है। इस सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन के साधनों और उपकरणों का स्वामित्व समाज का है। कुछ छोटे-छोटे उद्योग धन्धे निजी क्षेत्र में भी हो सकते हैं यदि वे श्रमिकों का शोषण न करें। निजी आय, निजी बचत, अपने रहने के मकान, गृहस्थी के उपकरण तथा निजी प्रयोग की वस्तुओं में व्यक्तिगत स्वामित्व उपलब्ध है। इस प्रकार की निजी सम्पत्ति में उत्तराधिकार के भी अधिकार प्राप्त हैं। देश की अर्थ-व्यवस्था योजना के अनुसार कार्यान्वित होती है और सभी काम करने योग्य व्यक्तियों को अपनी योग्यतानुसार काम करना लाजिमी है।

यद्यपि सरकार संघीय है परन्तु केन्द्रीय सरकार सर्वशक्तिमान् है। संघ की इकाइयों के पास वही शक्ति है जो उनको प्रदत्त की गयी है। केन्द्र के अनेक विषयों में आर्थिक योजना भी सम्मिलित है।

योजना-आयोग

राज्य की सर्वोच्च संस्था “सुप्रीम सोवियट” कहलाती है जो उसकी व्यवस्थापिका सभा है। इस सुप्रीम सोवियट की एक संस्था “प्रेसीडियम” कहलाती है जो व्यवस्थापिका सभा की एक प्रकार की कार्यकारिणी है और जब व्यवस्थापिका सभा की बैठक नहीं होती है, उसको अनेक वैधानिक सत्ताएँ प्राप्त रहती हैं। राज्य की सर्वोच्च कार्यपालिका और प्रशासकीय संस्था मन्त्रि-मण्डल होता है जिसके सदस्य सुप्रीम सोवियट द्वारा चुने जाते हैं। राज्य के योजना-आयोग का सभापति भी इस संस्था का सदस्य होता है। यह संस्था विविध विभागों के कार्यों का समन्वय करने के अतिरिक्त योजना-आयोग द्वारा आर्थिक योजनाओं का निर्माण और उनको कार्यान्वित कराने का काम भी करती है।

राज्य का योजना-आयोग (जिसको ‘गौस्प्लान’ भी कहते हैं) मन्त्रि-मण्डल की एक प्रकार की उपसमिति है। राज्य की यह सबसे

महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था है क्योंकि राज्य की आर्थिक योजनाओं के निर्माण और सम्पादन के निरीक्षण में उसका ही उत्तरदायित्व है। इसकी स्थापना सन् १९२१ में हुई। इसके सदस्य प्रमुख योजना सम्बन्धी कार्यकर्ताओं, वैज्ञानिकों और देश के अन्य विशेषज्ञों में से चुने जाते हैं। आयोग के अनेक विभाग और उप-विभाग हैं जो कि आर्थिक कार्यों के विभिन्न विशिष्ट अंगों से सम्पर्क रखते हैं। आयोग के अनेक कार्यों में निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(१) सभी प्रकार की आर्थिक योजनाओं का निर्माण और उनको परीक्षण के लिए मन्त्रि-मण्डल के सम्मुख उपस्थित करना, (२) निम्न स्तर पर बनायी गयी विभिन्न योजनाओं से सम्बन्धित परिणामों को मन्त्रि-मण्डल के सम्मुख उपस्थित करना, (३) योजनाओं की कार्यशीलता का पर्यवेक्षण करना, (४) विविध आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करना, (५) विशेष प्रकार की आर्थिक समस्याओं का समाधान करने के लिए विशेषज्ञों की समितियों की नियुक्ति करना, (६) योजना के कार्य-प्रणाली सम्बन्धी प्रश्नों को हल करना और (७) सामाजिक हिसाब-किताब का निर्देशन करना।

रूस में आर्थिक योजना समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को कार्यान्वित करने के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों की भी पूर्ति करती है। उदाहरणार्थ देश की सम्पत्ति में वृद्धि करना, अर्थ-तन्त्र का यथाशीघ्र उद्योगीकरण करना, कृषि का सामूहिकीकरण करना, उत्पादन व्यय में कमी करना, श्रम की उत्पादकता में वृद्धि करना, समाज के व्यक्तियों के भौतिक और सांस्कृतिक स्तर में उत्तरोत्तर वृद्धि करना और देश की स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा को बल देना। योजना-आयोग उद्देश्यों का निर्धारण नहीं करता। यह कार्य कम्यूनिस्ट पार्टी के नेताओं का है जो आयोग को निर्देश देते हैं कि किसी अवधि के भीतर योजना द्वारा कौन से कार्यों का सम्पादन करना है। आयोग का यह कर्तव्य है कि उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपाय ढूँढ़ निकाले।

राज्य के योजना-आयोग को अनेक वैज्ञानिकों, अन्वेषकों, संख्य-

परिषदों तथा निम्न स्तर पर काम करनेवाली विविध योजना-संस्थाओं से सहायता प्राप्त होती है। राज्य के प्रत्येक विभाग की तथा अर्थ-तन्त्र के विविध अवयवों की अपनी-अपनी योजना-संस्थाएँ होती हैं। इसी प्रकार स्थान, प्रदेश और संघ की इकाइयों की भी अपनी योजना-संस्थाएँ होती हैं। छोटे स्तर की संस्था अपने ऊपर की संस्था के प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते राज्ययोजना-आयोग तक पहुँच जाते हैं जो कि इन विविध क्षेत्रीय और विभागीय संस्थाओं का संयोजन और समन्वय करता है।

रूस की योजनाएँ पंचवर्षीय योजनाएँ हैं। सबसे प्रथम पंचवर्षीय योजना १९२८ में लागू की गयी थी जो १९३२ में पूर्ण हो गयी। दूसरी पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल १९३३ से १९३८ रहा। तीसरी पंचवर्षीय योजना, जिसका कार्यकाल १९३८ से १९४२ तक निर्धारित किया गया था, बीच में ही १९४१ में जर्मनी के आक्रमण के फलस्वरूप अवरुद्ध हो गयी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् १९४६ में चौथी पंचवर्षीय योजना आरम्भ की गयी जो १९५० में पूरी हो गयी। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना का काल १९५१ से १९५५ था। छठी योजना की अवधि १९५६ से १९६० तक निर्धारित की गयी थी परन्तु पूरी होने के पूर्व ही १९५९ में यह सप्तवर्षीय योजना में परिवर्तित कर दी गयी है।

योजना का निर्माण

जब किसी भी पंचवर्षीय योजना का निर्माण करना होता है उस समय राज्य-योजना-आयोग उस अवधि विशेष के लिए एक प्रारम्भिक सर्वांगीण योजना तैयार करता है। फिर इस योजना के छोटे-छोटे हिस्से तत्सम्बन्धी मन्त्रालयों और विभागों को उनके विचार के लिए भेज दिये जाते हैं। इसके उपरान्त इन हिस्सों का फिर और भी छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजन होता है और अर्थ-तन्त्र की छोटी-से-छोटी इकाई को अपने सम्बन्ध की योजना का भाग भेज दिया जाता है। उदाहरण के लिए एक “कारखाना” अर्थ-

तन्त्र की सबसे छोटी इकाई है, इसको यह सूचित किया जायगा कि उसको योजनावधि में किस प्रकार की, किस परिमाण में, किन वस्तुओं का उत्पादन करना है, इसको कितने और किस श्रेणी के श्रमिक, शक्ति के साधन, कच्चा माल तथा अन्य उत्पादन के उपकरण उपलब्ध होंगे और श्रमिकों की उत्पादकता तथा उनकी आय कितनी अनुमानित है। उत्पादन की सबसे छोटी इकाइयों के स्तर पर श्रमिकों को भी अपनी इकाई से सम्बन्धित योजना के बारे में तर्क-वितर्क करने का तथा अपने विचार और सुझाव पेश करने का अवसर रहता है। एक निर्धारित समय के भीतर विभिन्न क्षेत्रीय और विभागीय स्तरों से विचार, सुझाव, विरोध तथा संस्तुतियाँ राज्य-योजना-आयोग को प्राप्त होती हैं। इनको दृष्टिकोण में रखकर आयोग प्रारम्भिक योजना का पुनः निरीक्षण करता है और उसमें यथोचित संशोधन तथा परिवर्तन करके उसको अन्तिम रूप देता है।

इस प्रकार जब योजना को अन्तिम रूप मिल जाता है तब वह सुप्रीम सोवियट के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए रखी जाती है। यह स्वीकृति केवल नाम मात्र की ही होती है क्योंकि योजना के सभी स्तरों में कम्युनिस्ट पार्टी का बोलबाला रहता है और सुप्रीम सोवियट में भी इसी पार्टी की प्रभुता रहती है। स्वीकृति मिल जाने पर योजना के विभाग और उप-विभाग करके उनको तत्सम्बन्धी मन्त्रालयों, विभागों और क्षेत्रों को भेज दिया जाता है। यद्यपि योजना पाँच वर्ष की अवधि के लिए होती है परन्तु निश्चित व्यापक निर्देश अगले एक वर्ष के लिए ही दिये जाते हैं। पूरी अवधि के लिए निर्देशों की रूपरेखा भी बतलायी जाती है परन्तु प्रत्येक वर्ष के अनुभव के आधार पर योजना में कुछ मात्रा में बदलाव भी किया जा सकता है। इस प्रकार योजना में लोच रहती है।

योजना के निर्माण में बाजार, मूल्य, लागत-व्यय इत्यादि से विशेष सहायता नहीं ली जाती है। यह योजना-आयोग का कर्तव्य है कि अन्य संस्थाओं और आँकड़ों की सहायता से वह येन-केन प्रकारेण निश्चय कर ले कि कौन-सी वस्तुओं की किस परिमाण में नागरिकों को आवश्यकता है

अथवा होनी चाहिए, किस प्रकार उपलब्ध आर्थिक साधनों का विविध उद्योग-धन्धों में वितरण होना चाहिए, किस प्रकार उपभोग की और उत्पादन की वस्तुओं में साम्य करना चाहिए और सामान्यतः किस प्रकार उत्पादित वस्तुओं का वितरण होना चाहिए। इस अर्थ-व्यवस्था में कौन-सी वस्तुओं का किस परिमाण में उत्पादन किया जाय इसमें उपभोक्ताओं की इच्छा-अनिच्छा का कोई विशेष स्थान और महत्व नहीं है। योजना-निर्माताओं को भी उपभोक्ताओं की इच्छाओं तथा माँगों का स्पष्ट बोध नहीं होता है। नियोजित मूल्यों के आधार पर उपभोक्ताओं की विविध वस्तुओं के प्रति अपेक्षित माँग की तीव्रता का कुछ अनुभव तो अवश्य होता है परन्तु क्योंकि ये मूल्य बाजार में माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित नहीं होते हैं अतएव इनसे विशेष सहायता नहीं मिलती है। यह आशा करना कि राज्य-योजना-आयोग द्वारा किये गये निर्णय उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं से सामञ्जस्य रखते हैं अथवा उत्पादन के सीमित साधनों के अनुरूप हैं, दुराशा मात्र है।

यह आवश्यक नहीं है कि राज्य-आयोग द्वारा निर्मित और निर्देशित योजना पूर्ण रूप में सफल हो। रूस की विविध पंच-वर्षीय योजनाओं के सर्वेक्षण से पता चलता है कि योजना के लक्ष्य सभी क्षेत्रों में प्राप्त नहीं होते हैं, यद्यपि इस बात का भरसक प्रयत्न किया जाता है कि यथासम्भव इन लक्ष्यों की पूर्ति की जाय। कभी-कभी किसी उद्योग धन्धे में उत्पादन के परिमाण का लक्ष्य तो पूरा हो जाता है परन्तु अन्य लक्ष्य पूरे नहीं हो पाते हैं। उदाहरण के लिए उत्पादन-लागत नियोजित लागत से अधिक हो जाती है अथवा वस्तुओं का उत्पादन निम्न स्तर का होने लगता है।

उत्पादन-व्यवस्था

जहाँ तक उत्पादन व्यवस्था का प्रश्न है, सबसे छोटी इकाई “फैक्टरी” या “फार्म” होती है जो एक मैनेजर के नियंत्रण में काम करती है। यह मैनेजर का ही उत्तरदायित्व है कि वह योजनानुसार उत्पादन-सामग्री प्राप्त करे और उसको इस अनुपात में इकट्ठी करे कि योजना के उत्पादन-

लक्ष्यों की पूर्ति कम से कम लागत-व्यय द्वारा हो सके। यद्यपि योजनानुसार लागत-व्यय सूचित रहता है परन्तु जो मैनेजर इसको और भी कम कर सकता है उसकी उत्पादन-इकाई को अतिरिक्त लाभ में से हिस्सा मिलता है, जो कि श्रमिकों के हित के कार्यों में लगाया जाता है। दिन प्रति दिन की समस्याओं का समाधान करना मैनेजर का ही काम है।

किसी भी उद्योग में अनेक उत्पादन इकाइयाँ होती हैं। इन इकाइयों का एकत्रीकरण एक अन्य संस्था द्वारा होता है जिसको “ट्रस्ट” कहते हैं। ये “ट्रस्ट” एक बोर्ड द्वारा काम करते हैं। उत्पादन इकाइयों के मैनेजरों की नियुक्ति भी बोर्ड द्वारा ही होती है। यह भी ट्रस्ट का ही उत्तरदायित्व है कि उत्पादन इकाइयों को उत्पादन सामग्री उपलब्ध की जाय। ट्रस्ट को यह भी देखना पड़ता है कि जो कुछ भी तकनीकी वृद्धि हो रही हो उसकी सूचना उत्पादन इकाइयों को मिलती रहे और प्रत्येक उत्पादन इकाई अपने साधनों का पूर्ण रूप से उपयोग करती रहे और उपयुक्त हिसाब-किताब रखे।

इन ट्रस्टों के ऊपर एक और संस्था होती है जिसको “कम्बाइन” अथवा “एडमिनिस्ट्रेशन” कहते हैं। ये संस्थाएँ सामान्यतः निरीक्षण सम्बन्धी कार्य करती हैं। सूचना संग्रह करना, हिसाब-किताब रखने की विधियों का निरीक्षण करना, अपने से निम्न स्तर की संस्थाओं के अधिकारियों की नियुक्ति करना इत्यादि इनके कार्यों में से हैं। ये संस्थाएँ किसी मन्त्रालय के अन्तर्गत कार्य करती हैं।

यह भी एक जानने की बात है कि रूस में उत्पादन का सभी कार्य सरकारी क्षेत्र में ही सम्पादित नहीं होता है। यह सही है कि अनेक महत्वपूर्ण उद्योग-धन्धों का स्वामित्व और उनको कार्यान्वित करना भिन्न-भिन्न स्तरों के (संघीय, प्रदेशीय तथा स्थानीय) सरकारी क्षेत्रों में होता है। बैंकिंग, बीमा, मुद्रा, विदेशी व्यापार, वायुयान, मोटर-गाड़ी, कोयला, बिजली, रासायनिक इत्यादि उद्योग संघीय सरकार के क्षेत्र में हैं। कुछ उद्योग, जैसे खाद्य पदार्थ, वस्त्र, लकड़ी, मछली,

और अन्य हलके उद्योग संघ के प्रदेशीय क्षेत्रों में हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्थानीय स्तर के उद्योग, जैसे पानी, स्थानीय यातायात इत्यादि स्थानीय सरकारी स्तर पर सम्पादित होते हैं।

सहकारी क्षेत्र

सरकारी क्षेत्र के अतिरिक्त बहुत सी आर्थिक क्रियाएँ सहकारी क्षेत्र में होती हैं। रूस में ९० प्रतिशत से भी अधिक कृषि-भूमि सामूहिक अथवा सहकारी हाथों में है। कुछ अन्य उद्योग भी सहकारी स्तर पर कार्य करते हैं। उपभोग की वस्तुओं के निर्माण में इन उत्पादक सहकारिताओं को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और हर प्रकार की सरकारी सहायता द्वारा इनको प्रोत्साहन दिया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद उपभोग की वस्तुओं में कमी हो जाने के कारण इस प्रकार के सहकारी औद्योगिक उत्पादन को और भी महत्व दिया जाने लगा है और उनकी सुविधाओं में भी वृद्धि की गयी है।

निजी क्षेत्र

रूस की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में निजी उत्पादन को भी स्थान दिया गया है। लाइसेंस प्राप्त होने पर निजी क्षेत्र में बढ़ईगिरी, दर्जी-गिरी, मकानों की मरम्मत का काम, नाई-धोबी का काम, चित्रकारी, फोटोग्राफी इस प्रकार के छोटे-मोटे उद्योग धन्धे होते हैं। कुछ वस्तुएँ, जैसे फर्नीचर, बर्तन, वाद्ययन्त्र, निजी क्षेत्र में बिक्री के लिए भी बनाये जा सकते हैं, परन्तु कुछ वस्तुएँ बाजार में माँग के अनुमान के आधार पर बिक्री के लिए नहीं अपितु उपभोक्ताओं से आर्डर मिलने पर ही बनायी जा सकती है। वकील और डाक्टर सरकारी काम के अतिरिक्त निजी प्रैक्टिस भी कर सकते हैं। कुछ अंश में खेती का काम भी निजी क्षेत्र में होता है। कहना नहीं होगा कि निजी क्षेत्र के उद्योग-धन्धों में मूल्य इत्यादि पर अनेक प्रकार के नियंत्रण रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूस की अर्थ-व्यवस्था अभी भी पूर्ण रूप

में समाजवादी नहीं हो पायी है, यद्यपि उसका एक बहुत बड़ा क्षेत्र केन्द्र द्वारा आयोजित और निर्देशित है। परन्तु यह देश इस दिशा में निरंतर उत्तरोत्तर अग्रसर होता जा रहा है।

रूस में कृषि

अब हम रूस के कतिपय प्रधान आर्थिक क्षेत्रों का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करते हैं। सबसे पहले हम कृषि को लेते हैं। क्रान्ति के पूर्व कृषि ही रूस का प्रधान धन्धा रहा है और भारत की तरह वह छोटी-छोटी जोतों में बहुत पुराने ढंग पर सम्पादित होता रहा है। वहाँ भी बड़े-बड़े जमींदार थे, बड़े कृषक थे जिनको “कुलक” कहते हैं, तथा छोटे कृषक और भूमिहीन श्रमिक भी थे। क्रान्ति के बाद भूमि का तो समाजीकरण हो गया परन्तु कृषि का पूर्ण रूप से नहीं हुआ। प्रारम्भ में किसानों के खुले बाजार में बेचने पर और उनकी जोतों पर नियंत्रण लगाये गये। उनको बहुत कम मूल्य पर कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुओं को सरकार को बेचने को बाध्य किया गया।

पहली पंचवर्षीय योजना (१९२८-३२) का उद्देश्य कृषि उत्पादन का यथाशीघ्र विकास करना था। इस अवधि में कृषि का समूहीकरण प्रारम्भ हुआ। कुलकों का निष्कासन किया गया, उनसे भूमि ले ली गयी। बचे खुचे किसानों को सामूहिक कृषि में लगाया गया। इसमें इनको अपने सभी उत्पादक उपकरणों तथा मवेशियों का समर्पण करना पड़ा। पहली योजना के अन्त तक ७८ प्रतिशत कृषि-भूमि का समूहीकरण हो गया था।

सामूहिक फार्म

सामूहिक खेती की भूमि राज्य स्तर पर सारे समाज की सम्पत्ति है परन्तु सामूहिक फार्मों को अपनी भूमि का सतत प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है। खेती के उपकरण, पशु और बीज भी सामूहिक सम्पत्ति होते हैं। ट्रैक्टर, ट्रक इत्यादि भारी और कीमती उपकरण “मशीन ट्रैक्टर स्टेशन” से प्राप्त होते हैं जो राज्य द्वारा नियंत्रित एक संस्था है। इसकी सेवाओं

के लिए फार्मों को नकदी अर्थवा वस्तु के रूप में भुगतान करना पड़ता है । किसी भी सामूहिक फार्म की एक आम परिषद् होती है, जिसके सामूहिक कृषक सभापति, कार्यकारिणी सभा और नियंत्रण समिति का चुनाव करते हैं । खेती का काम ४० से ६० तक की कृषक-ब्रिगेड द्वारा किया जाता है । ब्रिगेड के कमांडर उनको विविध कार्यों में नियुक्त करते हैं । नियंत्रण समिति आफिसरों के कार्यों का निरीक्षण करती है और योजना की पूर्ति का प्रयत्न करती है ।

फसल का कुछ भाग अनिवार्य रूप में सरकार को बेचना पड़ता है । विक्रय मूल्य सरकार निर्धारित करती है जो बाजार-मूल्य से बहुत कम होता है । कुछ लोग इसके अन्तर को "कर" कहते हैं और कुछ लोग "लगान" कहते हैं । सामूहिक फार्मों को अपनी उपज की आय से बीज, चरी, बीमा, आपसी सहायता, आकस्मिक दुर्घटनाओं के लिए कोष इत्यादि का भी प्रबन्ध करना पड़ता है । इसके अतिरिक्त ऋण पर ब्याज और "मशीन ट्रैक्टर स्टेशन" के भुगतान के बाद जो बचता है वही सामूहिक किसानों में वितरण किया जाता है । साधारण तौर पर यह कुल उपज का ४० प्रतिशत से भी कम होता है । सामूहिक कृषकों को समान हिस्सा नहीं मिलता है । यह "श्रम दिवसों" के हिसाब से मिलता है जिसमें शारीरिक श्रम, कार्यक्षमता, और समाज-हित सम्मिलित रहते हैं ।

सरकारी फार्म

सामूहिक क्षेत्र के अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र में भी खेती होती है । सरकारी फार्मों की सभी भूमि, इमारत, मशीन और उत्पादक-उपकरणों पर सरकार का स्वामित्व होता है । फार्मों का प्रबन्ध सरकार द्वारा नियुक्त डाइरेक्टर करते हैं । सरकारी फार्मों के श्रमिकों को मजदूरी मिलती है । उपज पर उनका कोई अधिकार नहीं रहता है । इन श्रमिकों तथा इनके परिवारों को रहने के लिए क्वार्टर, शिक्षा तथा चिकित्सा की सुविधाएँ मिलती हैं । प्रत्येक सरकारी फार्म में एक डाइरेक्टर का फंड होता है जिसमें

आयोजित अथवा अन-आयोजित लाभ का कुछ हिस्सा स्थानीय सुविधाओं और सुधारों के लिए जमा किया जाता है। श्रमिकों को कार्य के अनुसार मजदूरी दी जाती है और यह साधारणतः अन्य उद्योग-धन्धों के स्तर पर ही होती है।

प्रारम्भ में सरकारी फार्म पुराने जमीन्दारों की भूमि, अनजोती भूमि और निष्कासित भूमि से निर्मित किये गये थे। बाद में कुछ सरकारी फार्म उस निजी भूमि से भी निर्मित हुए जिसका समूहीकरण नहीं हुआ। इन सरकारी फार्मों का मुख्य उद्देश्य आधुनिक उपकरणों द्वारा कृषि उत्पादन में वृद्धि करना और देश के अन्य कृषिक्षेत्रों के लिए एक उदाहरण रूप बनना है। सरकारी फार्मों का क्षेत्रफल सामूहिक फार्मों से कहीं अधिक होता है। इनमें उत्पादकता बढ़ाने के सभी साधन विशिष्ट प्रकार के होते हैं और कहा जाता है कि इनमें लागत-व्यय भी अधिक होता है।

निजी फार्म

जैसा पहले बताया जा चुका है, रूस में अभी तक कुछ खेती निजी क्षेत्र में भी होती है। सामूहिक किसानों के पास कुछ निजी भूमि भी होती है। कुछ व्यक्तिगत कृषक भी पाये जाते हैं। इस प्रकार के निजी फार्मों का क्षेत्रफल बहुत ही सीमित होता है। इनके कार्य पर अनेक प्रकार के बन्धन भी रहते हैं। इस प्रकार निजी क्षेत्र में कृषि का कोई विशेष महत्व नहीं रह गया है।

कृषि और योजना

इस प्रकरण में एक प्रश्न यह उठता है कि जब कि रूस में सामूहिक कृषि की प्रधानता है और इस प्रकार की कृषि सीधे सरकारी स्तर पर नहीं की जाती है, तो योजनाधिकारी किस प्रकार विभिन्न प्रकार से कृषि सम्बन्धी उपज के लक्ष्य निर्धारित और कार्यान्वित कर सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि सरकार अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रकार की उपजों को प्रभावित कर सकती है। उदाहरण के लिए सरकार को उपज का जो भाग अनिवार्य

रूप से सस्ते मूल्य पर बेचनी पड़ता है उसको वह घटा-बढ़ा सकती है। इसी प्रकार मूल्यों में परिवर्तन करके भी किसी उत्पादन को विशेष प्रोत्साहन दे सकती है और किसी को निरुत्साहित भी कर सकती है। जो फार्म योजना-नुसार कार्य नहीं करते हैं उनको “मशीन ट्रैक्टर स्टेशन” की सेवाओं से वञ्चित किया जा सकता है अथवा उनसे सेवाओं के लिए अधिक महसूल लिया जा सकता है। ऋण पर इनसे अधिक व्याज लिया जा सकता है। जो फार्म योजना के विरुद्ध कार्य करते हैं उनके श्रमिकों से देहाती क्षेत्रों वाले स्टोर उपभोग की वस्तुओं का अधिक मूल्य ले सकते हैं। अन्य प्रकार से भी इनको दण्ड तथा ताड़ना दी जा सकती है। इनको सिखाया और पढ़ाया भी जाता है जिससे ये कम्युनिस्ट पार्टी के उद्देश्यों को समझें और उनको प्राप्त करने में सहायता करें। इस प्रकार प्राकृतिक प्रकोपों को छोड़कर साम-दान-दंड नीति द्वारा रूस की सरकार कृषि क्षेत्र में अपनी योजना को बहुत अंश में सफल बनाने में समर्थ हुई है।

रूस में विनिमय तथा व्यापार

क्रान्ति के बाद ही रूस में सब निजी व्यापार समाप्त कर दिया गया। वस्तुओं का वितरण सरकारी केन्द्रों तथा उपभोग-सहकारी संस्थाओं द्वारा किया जाने लगा। यह प्रबन्ध असफल रहा और १९२१ में नयी आर्थिक नीति के अन्तर्गत निजी व्यापार और बाजार को पुनः स्थापना हो गयी। परन्तु सरकार इस व्यवस्था से प्रसन्न नहीं थी। निजी व्यापारियों पर अनेक प्रकार के बन्धन लगाये जाने लगे और सरकार इस बोच में सहकारी स्टोरों के विकास को प्रोत्साहन और सरकारी स्टोरों की स्थापना को बल देती रही। १९२९ में निजी व्यापार फिर बन्द कर दिया गया। देहाती क्षेत्रों में सहकारी स्टोरों की प्रधानता है। सरकारी स्टोर भी विविध स्तरों पर पाये जाते हैं। सामूहिक फार्मों के देहाती बाजार भी होते हैं। उत्पादन-सहकारी संस्थाएँ और निजी उत्पादक भी अपनी वस्तुएँ बेच सकते हैं। परन्तु कोई भी व्यक्ति व्यापार सम्बन्धी ऋण-विक्रय नहीं कर सकता है।

व्यापार पर केन्द्रीय नियंत्रण रहता है। अनेक विभाग और राज्य-कर्मचारी विभिन्न स्तरों पर थोक तथा फुटकर व्यापार पर नियंत्रण रखते हैं।

योजना-अधिकारी भिन्न-भिन्न भौगोलिक तथा आर्थिक स्तरों की जनसंख्या के उपभोग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तथा सम्पूर्ण अर्थ-तन्त्र में उनके महत्व के अनुसार तैयार वस्तुओं का वितरण करने की चेष्टा करते हैं। उत्पादित वस्तुओं का एक भाग बिक्री के लिए होता है और दूसरा भाग उत्पादन-क्षेत्रों में काम में आता है, अथवा निर्यात किया जाता है, अथवा सेना के उपभोग के काम आता है। जो भाग बिक्री के लिए होता है उसका विभाजन भी दो प्रकार का होता है। एक भाग वह है जिसमें उपभोग की महत्वपूर्ण वस्तुएँ होती हैं और जिनका परिमाण अपेक्षाकृत कम होता है, उन पर केन्द्र से लेकर फुटकर बिक्री के स्टोर तक पूर्ण रूप से नियंत्रण रहता है। दूसरा भाग उन वस्तुओं का होता है जिनका अपेक्षाकृत प्रचुर मात्रा में उत्पादन होता है और वे कम महत्व की होती हैं। इस प्रकार की वस्तुएँ प्रादेशिक और केन्द्रीय संस्थाओं को उपलब्ध करा दी जाती हैं और उनका निचले स्तरों में वितरण उन्हीं के ऊपर छोड़ दिया जाता है।

रूस की योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में मूल्यों पर नियंत्रण रहता है। मूल्यों का निर्धारण सम्बन्धी विस्तृत कार्य विभिन्न स्तरों पर होता है। परन्तु उनके अन्तिम रूप से निर्धारण करने का अधिकार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल और राज्य-योजना-आयोग को रहता है। फुटकर मूल्यों में थोक मूल्य के अतिरिक्त उत्पादन कर, यातायात सम्बन्धी व्यय तथा व्यापार सम्बन्धी (लाभ सहित) अन्य व्यय भी सम्मिलित रहते हैं। यह आशा भी की जाती है कि फुटकर मूल्यों द्वारा उपभोग और उत्पादन में साम्य लाया जा सकेगा।

आय का वितरण

समाजवादी अर्थव्यवस्था का आदर्श यह है कि वितरण व्यक्तियों

अथवा परिवारों के आवश्यकतानुसार हो। परन्तु व्यवहार में उसका लक्ष्य आय के वितरण की असमानता में कमी लाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति में एक बड़ी बात यह है कि भूमि और उत्पादक पूंजी का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर दिया गया है। अतएव व्यक्तिगत रूप में लगान, ब्याज और लाभ सम्बन्धी आय, जो पूंजीवाद में आय की असमानता के मुख्य कारण हैं, इस व्यवस्था में लगभग नहीं के बराबर हैं। ऐसा नहीं है कि रूस में भूमि अथवा पूंजी से आय होती ही नहीं। आय अवश्य होती है परन्तु इसका व्यक्तिगत स्वरूप नहीं होता है। यह सारे समाज की आय होती है और समाज के ही कार्यों में उसका उपयोग होता है चाहे वह बचत और पूंजीकरण के रूप में हो अथवा सामाजिक सुरक्षा के लिए हो। जहाँ तक छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे और छोटी मात्रा में कृषि निजी क्षेत्र में होती है वहाँ कुछ अंश तक लगान और लाभ के रूप में आय होती है। इसके अतिरिक्त नागरिक अपनी बचत बैंकों में रख सकते हैं, अथवा इससे सरकारी प्रतिभूतियाँ और ऋण-पत्र खरीद सकते हैं। अतएव कुछ व्यक्तिगत आय ब्याज के रूप में भी होती है।

पारिश्रमिक

परन्तु रूस में आय का मुख्य रूप पारिश्रमिक ही है। किसी वर्ष-विशेष में कितना कुल पारिश्रमिक के रूप में दिया जाय यह आर्थिक योजना से सम्बन्धित रहता है। योजना में यह भी निर्देशित रहता है कि विभिन्न उद्योगों और उनकी इकाइयों में पारिश्रमिक-कोष का किस प्रकार वितरण हो। इस प्रकार से प्रत्येक उद्योग धन्धे को पहले से ही यह पता रहता है कि किसी वर्ष विशेष में वह कितना पारिश्रमिक दे सकता है। विभिन्न स्तरों के श्रमिकों के लिए सरकार न्यूनतम पारिश्रमिक की दरें भी निर्धारित करती है। साधारणतः पारिश्रमिक प्रतिफल के हिसाब से दिया जाता है। पारिश्रमिक केवल उत्पादन कार्यों और प्रोत्साहन के लिए ही नहीं दिया जाता है, उसका एक उद्देश्य योजना के अनुसार भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धों में पर्याप्त मात्रा में भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमिकों को उपलब्ध कराना भी है।

इन कार्यों के लिए पारिश्रमिक में अन्तराय का सहारा लेना पड़ता है, अर्थात् पारिश्रमिक की मात्राओं में इस प्रकार भिन्नता लानी पड़ती है कि उससे न केवल उत्पादकता को प्रोत्साहन मिलता है अपितु भिन्न-भिन्न योग्यता के श्रमिकों की माँग और पूर्ति में भी सन्तुलन लाया जा सकता है। मुख्य रूप में बल योजना की सफलता को ही दिया जाता है। यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि उत्पादकता अथवा कार्यक्षमता की माप भी योजना-धिकारियों द्वारा उनके निर्धारित मूल्यों पर ही होती है।

पारिश्रमिकों में जो अन्तराय होता है वह हमेशा एक-सा ही नहीं रहता है। अनुभव अथवा आवश्यकता के अनुसार उसमें बदलाव होता रहता है। समाजवादी व्यवस्था के प्रारम्भिक काल में उद्देश्य यह था कि न्यूनतम और अधिकतम पारिश्रमिकों में तिगुने से अधिक का अन्तर न हो। उत्तरोत्तर काल में यह अन्तराय बढ़ता ही गया और शायद यह २० और १ के अनुपात में है। कुछ अनुमानों के आधार पर तो यह साधारणतः १०० और १ के अनुपात में है। कुछ भी हो, यह असमानता पूँजीवादी देशों की असमानता से बहुत कम है। एक बात और ध्यान में रखने की है कि रूस में अनेक प्रकार की शिक्षा, चिकित्सा, सुरक्षा इत्यादि सेवाएँ और सुविधाएँ निःशुल्क सभी व्यक्तियों को प्राप्त हैं। ऐसा समझा जाता है कि वास्तविक आय का लगभग चतुर्थांश इन सामाजिक सेवाओं के रूप में प्राप्त होता है जो कि सामान्यतः आवश्यकता के आधार पर उपलब्ध की जाती हैं। क्योंकि कम आय वाले व्यक्तियों का भी इन सेवाओं पर उतना ही अधिकार है जितना अधिक आय वालों का, अतएव इससे भी असमानता में कमी आने की सम्भावना रहती है। एक धारणा यह भी है कि सैद्धान्तिक रूप में जो कुछ भी हो वास्तव में उच्चाधिकारियों को और सत्ताधारियों को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। यदि ऐसा है तो सामाजिक सेवाओं द्वारा असमानता में कुछ वृद्धि होने की ही सम्भावना है।

प्रेरणा तथा प्रोत्साहन

रूस में उत्पादकता तथा कार्यक्षमता की वृद्धि को बहुत महत्व दिया जाता है। अनेक प्रकार के भौतिक उपकरणों में वृद्धि की गयी है। बिजली, ट्रैक्टर, मशीनरी तथा तकनीकी ज्ञान के विकास पर बहुत ध्यान दिया जाता है जिसकी सहायता से उत्पादन में वृद्धि हो सके। इस कार्य में रूस काफी आगे बढ़ गया है और अन्य पश्चिमी विकसित देशों के समकक्ष पहुँच गया है। इन सब उत्पादक उपकरणों के साथ उत्पादन में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि करने के लिए श्रमिकों की कार्य-कुशलता बढ़ाना और उनमें काम करने की लगन और प्रेरणा बनाये रखना भी आवश्यक है। कार्य-कुशलता बढ़ाने के सन्दर्भ में यह ध्यान योग्य है कि रूस में अब शत-प्रतिशत साक्षरता है। औद्योगिक शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध है। जहाँ तक शारीरिक शक्ति का सम्बन्ध है जीवनोपयोगी वस्तुएँ सभी को उपलब्ध हैं। चिकित्सा का भी समुचित प्रबन्ध हो रहा है।

लगन और प्रेरणा को बनाये रखने के लिए अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं। कार्य के प्रतिफल के अनुसार पारिश्रमिक देना उनमें मुख्य है। जो व्यक्ति जितना अधिक उत्पादन करेगा उसको उतना ही अधिक पारिश्रमिक भी मिलेगा। इसके अतिरिक्त आयोजित प्रतिफल से अधिक उत्पादन करनेवाले श्रमिकों को बोनस के रूप में भी पुरस्कृत किया जाता है। जिस उत्पादन इकाई में श्रमिकों की कार्य-क्षमता से लागत में कमी आने के फलस्वरूप आयोजित लाभ से अधिक लाभ होता है, उसको इस अतिरिक्त लाभ का एक भाग अपने पास रखने का अधिकार होता है। यह धन उन्हीं लोगों के हित के कामों में लगाया जाता है। लगन और उत्साह के साथ काम करनेवाले व्यक्तियों की पदोन्नति भी होती रहती है।

जो श्रमिक ठीक ढंग से काम नहीं करते हैं, सुस्ती करते हैं, ढालमटोल और ढील-ढाल करते हैं उनको अनेक प्रकार से दण्डित किया जाता है। उनको न केवल अर्थ-दण्ड दिया जाता है अपितु उनको प्रताड़ना भी दी

जाती है। उनको पदच्युत कर दिया जाता है, मुअत्तल कर दिया जाता है और विशेष अवस्था में निष्कासित भी कर दिया जाता है।

विशेष योग्यता और लगन के अनुसार कार्य करनेवाले व्यक्तियों को अनेक प्रकार से पुरस्कृत और सम्मानित किया जाता है। रूस में सबसे बड़ा सम्मान “आर्डर आफ लेनिन” कहलाता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पारितोषिक और पदक हैं जो प्रशंसनीय कार्यों के लिए दिये जाते हैं। आशातीत कार्य-कुशल व्यक्तियों की सोवियट समाचारपत्रों में प्रशंसा होती है तथा उनके चित्र कारखानों में लगाये जाते हैं। कुछ श्रमिकों को मास्को आने का निमन्त्रण दिया जाता है जहाँ उनकी भेंट सर्वोच्चाधिकारी से करायी जाती है। उत्पादन बढ़ाने के निमित्त अनेक प्रकार की प्रतियोगिताएँ भी होती हैं। श्रमिकों से कहा जाता है कि वे देश की तथा अपनी प्रगति के लिए जो कार्य कर रहे हैं उसमें गौरव का अनुभव करें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूस की अर्थ-व्यवस्था में अनेक प्रकार से श्रमिकों को प्रोत्साहन दिया जाता है कि वे मनोयोग के साथ पूर्ण कार्य-निष्ठा से जो काम उनको सौंपा गया है उसको परिपूर्ण करें। परन्तु इतना करने पर भी रूस के श्रमिकों की कार्यक्षमता अभी तक संयुक्त राज्य अमेरिका के श्रमिकों के समक्ष नहीं पहुँच पायी है। इसका कारण प्रोत्साहन की कमी नहीं है। रूस के अधिकांश श्रमिक आधुनिक उत्पादनकला से अनभिज्ञ रहे हैं और जिस वेब से रूस में उद्योगीकरण और मशीनीकरण हो रहा है उतनी तीव्रता से वे अपने को उसके अनुकूल नहीं बना पा रहे हैं। यह केवल समय का प्रश्न है। धीरे धीरे यह बाधा दूर हो जायगी। कभी कभी श्रम की उत्पादकता की कमी का कारण व्यवस्था की अकुशलता भी होता है। यदि आयोजित अर्थ-व्यवस्था के किसी भाग में गड़बड़ी हो जाय तो उसकी प्रतिक्रिया अन्य भागों में भी हो जाती है।

रूस में सामाजिक सुरक्षा

रूस में सामाजिक सुरक्षा का आयोजन अनेक प्रकार का है। सभी

प्रकार के संकटों, दुर्घटनाओं तथा आपदाओं के लिए प्रबन्ध है। क्योंकि सैद्धान्तिक रूप में समाजवादी व्यवस्था में श्रमिक बेरोजगार रह ही नहीं सकते हैं, अतएव बेरोजगारी के बीमों का प्रबन्ध नहीं है। रुग्णावस्था, वृद्धावस्था, विकलांगता, मृत्यु तथा प्रसूति की अवस्था में आर्थिक सहायता का प्रबन्ध है। रोगी श्रमिकों के लिए आर्थिक सहायता (जो कम आय वाले श्रमिकों के लिए मजदूरी के बराबर भी हो सकती है) के अतिरिक्त निःशुल्क इलाज का भी प्रबन्ध रहता है। यदि श्रमिक पूर्ण रूप से विकलांग हो जाता है तो उसको लगभग पूरी मजदूरी पाने का अधिकार होता है। यदि आंशिक रूप में विकलांग हो तो उसको उसके पहले की मजदूरी और वर्तमान कार्य की मजदूरी का अन्तर दे दिया जाता है। मृत्यु हो जाने पर अन्त्येष्टि क्रिया का खर्च दिया जाता है तथा आश्रितों को आर्थिक सहायता दी जाती है जिसका परिमाण आश्रितों की संख्या पर निर्भर होता है। एक आश्रित होने पर मजदूरी का चौथा भाग और तीन या अधिक आश्रित होने पर मृतक व्यक्ति को मिलनेवाली मजदूरी का तीन चौथाई भाग तक दिया जाता है। वृद्धावस्था की पेन्शन परिस्थिति के अनुसार एक तिहाई से पूरी मजदूरी तक हो सकती है। स्त्रियों को प्रसूति की अवधि में (बच्चा पैदा होने के आठ सप्ताह पूर्व और आठ सप्ताह बाद तक) छुट्टी और आर्थिक सहायता दी जाती है। सामाजिक सुरक्षा के सभी खर्चे उत्पादन इकाइयों के प्रबन्धकों द्वारा दिये जाते हैं और वे लागत-व्यय में जुड़ जाते हैं। आर्थिक सहायता प्राप्त होने की योग्यता का निर्धारण और सहायता द्रव्य का वितरण मजदूर-संघों के हाथ में है।

यद्यपि रूस में व्यापक रूप में सभी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था है परन्तु अभी तक इसका लाभ सारी जनता को प्राप्त नहीं है। जहाँ तक बेरोजगारी का प्रश्न है, ऐसा समझा जाता है कि बेरोजगार व्यक्तियों को नहर, रेल, सड़क इत्यादि अनेक प्रकार के सरकारी निर्माण-कार्यों में बहुत कम मजदूरी पर जबरदस्ती लगा दिया जाता है। ऐसे व्यक्तियों को देहातों में फार्मों पर काम करने को भी भेज दिया जाता है,

जहाँ यद्यपि उनकी आवश्यकता नहीं रहती है परन्तु कृषि व्यवसाय में कुछ न कुछ काम उनके लिए निकल ही आता है। इस प्रकार बेकारी को छिपाया जा सकता है।

रूस में मुद्रा तथा बैंक

रूस में अर्थ-तन्त्र के अन्य अवयवों की भाँति मुद्रा पद्धति भी पूर्ण रूप से आयोजित है। यह पद्धति अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रभावों से पूर्ण सुरक्षित रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विनियोग भी आयोजित रहता है और उस पर सरकारी एकाधिकार रहता है। मुद्रा का विदेशी मूल्य सरकार द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। रूस की मुद्रा “रुबल” कहलाती है। यह अविनिमय-साध्य मुद्रा है यद्यपि रूस के पास पर्याप्त मात्रा में सोना उपलब्ध है। मुद्रा (नोट तथा छोटे मूल्य के सिक्के) का परिमाण आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार वित्तमन्त्रालय तथा रूस के केन्द्रीय बैंक “गैस बैंक” द्वारा निर्धारित किया जाता है। रूस में मुद्रा-नीति से अर्थ-तन्त्र को प्रभावित करने का काम नहीं लिया जाता है, जैसा कि पूँजीवादी देशों में होता है। समाजवादी पद्धति में मूल्य और अर्थ-तन्त्र के सभी अवयव योजना द्वारा नियन्त्रित रहते हैं, अतएव मुद्रा-नीति का सहारा लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है, रूस की आयोजित अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा को उतना महत्व प्राप्त नहीं है जितना उसको पूँजीवादी देशों में प्राप्त होता है।

गैस बैंक

बैंक पद्धति भी योजना के अन्तर्गत कार्य करती है। व्यापारिक बैंकिंग पर राज्य का एकाधिकार है और इसका संचालन गैस बैंक द्वारा होता है। गैस बैंक की सारे देश में अनेक शाखाएँ हैं। ये उद्योग-धन्धों को अल्पकालीन ऋण देती हैं और उनके आपसी लेन-देन का लेखा-जोखा रखती हैं। प्रदेशीय तथा स्थानीय राजस्व भी गैस बैंक में जमा होता है और इसी के

द्वारा भुगतान भी किया जाता है। राज्य-ऋण का प्रबन्ध भी इसी बैंक के द्वारा होता है। गौस बैंक का प्रशासन एक कौन्सिल और डाइरेक्टरों के बोर्ड द्वारा सम्पादित होता है। कौन्सिल बैंक की नीति का निर्देशन करती है, भिन्न-भिन्न योजनाओं के लिए साख की मात्रा निर्धारित करती है और बोर्ड के डाइरेक्टरों की नियुक्ति करती है। बोर्ड बैंक के विस्तृत कार्यों का संपादन करता है।

रूस की आयोजित पद्धति में गौस बैंक का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तविक आर्थिक योजना का एक मौद्रिक प्रतिरूप भी होता है। इस मौद्रिक प्रतिरूप का वास्तविक योजना से सामञ्जस्य करना गौस बैंक का काम है। विविध उद्योग धन्धों को इस मौद्रिक योजना के अन्तर्गत रखना भी इसी का काम है। प्रत्येक आर्थिक इकाई अपना हिसाब-किताब गौस बैंक में रखती है। उसकी मौद्रिक उपलब्धि इसी में जमा होती है और व्यय का हिसाब भी इसी में रहता है। अतएव बैंक को प्रत्येक इकाई की आर्थिक अवस्था का पता रहता है। साधारणतः किसी अवधि के भीतर किसी भी उत्पादन इकाई के आय-व्यय में साम्य होना चाहिए। यदि बैंक के खातों में किसी इकाई का व्यय आय से उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है तो इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वह उत्पादन-इकाई योजना के अनुसार कार्य नहीं कर रही है, अथवा उसकी कार्य-क्षमता में कमी है, इत्यादि। इस जानकारी से लाभ उठाया जाता है। इस प्रकार की उत्पादन इकाइयों को बैंक साख देना बन्द कर देता है अथवा उसका परिमाण कम कर देता है। इससे उत्पादन इकाई को एक प्रकार से चेतावनी मिलती है कि उसके काम में कुछ त्रुटियाँ हैं। इस प्रकार बैंक द्वारा निरीक्षण और नियंत्रण का काम भी होता है। यदि किसी आर्थिक इकाई का बैलेन्स गौस बैंक में बढ़ता जा रहा है तो इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वह इकाई आयोजित तथा अन-आयोजित लाभ अर्जन कर रही है।

बैंकिंग की इस प्रकार की व्यवस्था से एक मुख्य लाभ यह है कि मुद्रा और साख का अन्य आर्थिक क्रियाओं से सुगमता के साथ साम्य किया जा

सकता है और मौद्रिक सम्बन्धी विषमता उत्पन्न नहीं होने पाती है। पूँजीवादी पद्धति में इस प्रकार का साम्य करना बहुत कठिन होता है। वहाँ मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संकुचन संबंधी विषमताएँ उत्पन्न होती रहती हैं जिनके समाधान के लिए राज्य तथा केन्द्रीय बैंक को हमेशा प्रयत्नशील रहना पड़ता है। गौस बैंक को अपने कार्य में सफलता मिली है क्योंकि मुद्रा और साख का कुल परिमाण और भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों में उसका वितरण सरकार और योजनाधिकारियों के नियंत्रण में रहता है, अतएव उनको सारे अर्थ-तन्त्र को योजनाओं के अनूकूल बनाना सम्भव हो जाता है।

जहाँ तक पूँजी के विनियोग का प्रश्न है, यह कार्य रूस में विनियोग-बैंकों और उनकी अनेक शाखाओं द्वारा सम्पादित किया जाता है। ये सभी सरकारी बैंक हैं और गौस बैंक के अधीन हैं। इन बैंकों द्वारा विविध उद्योग-धन्धों को उत्पादन के उपकरणों के निमित्त दीर्घकालीन ऋण और सहायता उपलब्ध की जाती है। ये बैंक सरकारी कोष तथा विविध उद्योग धन्धों द्वारा एकत्रित कोषों का संचालन करते हैं। पूँजी वितरण करने के अतिरिक्त ये बैंक उपकरणों के उत्पादन और उनकी कार्यक्षमता का भी निरीक्षण करते रहते हैं। रूसी अर्थ-तन्त्र में, जहाँ यथाशीघ्र पूँजी-निर्माण और उत्पादन के उपकरणों की वृद्धि को विशेष रूप से प्रधानता दी गयी है, इन विनियोग-बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान है और इन कार्यों के सम्पादन के लिए ये उपयुक्त संस्थाएँ हैं।

अध्याय ११

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन

मूल्यांकन की कठिनता

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन करना पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के मूल्यांकन की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। इसका प्रधान कारण यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था अनेक शताब्दियों से अनेक देशों में उपलब्ध है। कुछ देशों में उसका पूर्ण रूप से विकास हो चुका है। अतएव इसका मूल्यांकन केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही नहीं अपितु व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। परन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्था को व्यवहार में आये हुए कुछ ही वर्ष हुए हैं। अनेक देश जो अपनी अर्थ-व्यवस्था को समाजवादी बतलाते हैं, अभी उसकी प्रारम्भिक अवस्था से ही गुजर रहे हैं। केवल रूस ही एक ऐसा देश है जहाँ गत चार दशकों से समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्तरोत्तर विकास होता आया है। अतएव इस अर्थ-व्यवस्था के व्यावहारिक रूप के मूल्यांकन में हम रूस के ही उदाहरण लेंगे। इसमें भी एक कठिनाई यह है कि इस देश की अर्थ-व्यवस्था के बारे में जो कुछ साहित्य प्राप्त है वह अधिकांश रूप में पक्षपात से भरा है। एक ओर तो इस पद्धति के समर्थक इसकी उपलब्धियों की प्रशंसा करते नहीं थकते हैं, दूसरी ओर इसके विपक्षियों को इसमें केवल दोष ही दिखाई देते हैं। बहुत कम ऐसा साहित्य है जिसको निष्पक्ष कहा जा सके। दूसरी कठिनाई आँकड़ों की है। रूस के अर्थ-तन्त्र के जो आँकड़े प्राप्त हैं उनके आधार पर उसकी अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन करना कठिन है। पहले तो सभी क्षेत्रों के क्रमबद्ध आँकड़े पूर्ण रूप में प्राप्त ही नहीं हैं। जो प्राप्त भी हैं तो कभी कभी वे रूबलों (रूस की मुद्रा) के रूप में और कभी कभी वास्तविक रूप में

दिये जाते हैं जिसके कारण तुलना करना और आर्थिक सम्बन्ध मालूम करना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त आँकड़ों की संदिग्ध प्रकार के बतलाये जाते हैं। रूस में सभी आँकड़ों वहाँ की सरकार द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं, अतएव यह आशंका रहती है कि वह शायद उन आँकड़ों को उस रूप में प्रस्तुत करे जिससे उस देश की अर्थ-व्यवस्था दूसरे देशों की निगाहों में सफल प्रतीत हो। अर्थात् आँकड़ों का प्रयोग प्रचारात्मक कार्यों के लिए भी होता है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की उपलब्धियों तथा त्रुटियों और दोषों का विवेचन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उसकी विशेषताओं को ध्यान में रखें। इस व्यवस्था की मुख्य विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत सभी उत्पादक साधनों का समाजीकरण रहता है, अर्थात् उनका स्वामित्व निजी न होकर सम्पूर्ण समाज का होता है और इसका प्रबन्ध और संचालन समाज के प्रतिनिधि के रूप में राज्य द्वारा होता है। दूसरी विशेषता जो पहली पर ही आधारित है वह यह है कि इसमें व्यक्तिगत उद्योग को स्वतन्त्रता नहीं होती है, अर्थात् उत्पादन के सभी कार्य राज्य के तत्वावधान में उसके आदेश और निमंत्रण में सम्पादित होते हैं। इसके लिए एक सर्वांगीण योजना की आवश्यकता होती है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रूप से योजना-बद्ध होती है। इस व्यवस्था में उत्पादक साधनों का विभिन्न उद्योग धन्धों में नियोजन “लाभ” के उद्देश्य से नहीं परन्तु समाज के कल्याण के उद्देश्य से होता है। समाज का किन किन वस्तुओं और सेवाओं के किन किन मात्राओं में उत्पादन से अधिकतम कल्याण होगा इसका अनुमान उपभोक्ताओं की रुचि तथा आवश्यकताओं के आधार पर एवं बाजार और वस्तुओं के पारस्परिक मूल्यों के सम्बन्ध पर निर्भर नहीं रहता है। बाजार और मुद्रा तो रहती हैं परन्तु बाजार में वस्तुओं के जो मूल्य होते हैं वे योजनाधिकारियों

द्वारा हो निर्धारित होते हैं, न कि बाजार में क्रेताओं और विक्रेताओं के संघात के फलस्वरूप। उत्पादक साधनों का बाजार नहीं होता है। ये योजनानुसार भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों को उपलब्ध किये जाते हैं। एक अन्य विशेषता यह है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिगत आय पारिश्रमिक के रूप में ही होती है। भिन्न भिन्न स्तरों और योग्यताओं के श्रमिकों का पारिश्रमिक भी योजनाधिकारी ही निर्धारित करते हैं।

समाजवाद की आर्थिक उपलब्धियाँ

सबसे पहले हम एक विचारधारा का खण्डन करना चाहते हैं जिसके अनुयायी यह समझते हैं कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था व्यावहारिक रूप में चल ही नहीं सकती है। यदि इसको व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया गया तो यह असफल रहेगी। असफल इस अर्थ में रहेगी कि इसके अन्तर्गत उत्पादन में कमी आ जायगी और लोगों के जीवनस्तर में भी गिरावट आ जायगी। रूस ने यह दिखा दिया है कि इस व्यवस्था को व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है और सफलता पूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है। यह हो सकता है कि इसको कार्यान्वित करने में विशेष प्रकार की कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ पेश आती हों। अतएव हम सामान्य तौर पर कह सकते हैं कि एक उपलब्धि यही है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है परन्तु व्यावहारिक भी है।

साधनों का उपयोग

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का एक मुख्य गुण यह बतलाया जाता है कि इसके अन्तर्गत उत्पादन की अधिकतम मात्रा सम्भावित है। अधिकतम उत्पादन की स्थिति के लिए एक शर्त यह है कि उत्पादन के सभी साधनों को पूर्ण रूप में बराबर काम में लगाया जा सके। पूँजीवाद के मूल्यांकन में हमने बतलाया था कि इस व्यवस्था में समय समय पर उत्पादन-साधन बड़ी मात्रा में बेकार हो जाते हैं। यदि आर्थिक साधन किसी भी कारण बेकार पड़े रहते हैं तो इसका मतलब यह हुआ कि उत्पादन की मात्रा अधिकतम न होने

पायेगी। समाजवादी व्यवस्था तो प्रोजना-बद्ध होती है। इसमें सभी साधनों को उपयुक्त कार्यों में लगाने की व्यवस्था रहती है। अतएव साधनों की बेकारी का प्रश्न पैदा ही नहीं होता है। यदि सभी साधन आर्थिक कार्य करते रहें तो अन्य बातों के समान रहने पर उत्पादन अधिकतम हो सकेगा। रूस की अर्थ-व्यवस्था के बारे में कहा जाता है कि वहाँ साधनों में बेकारी नहीं पायी जाती है। योजना बनाने के समय योजनाधिकारी सभी उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखकर विविध उद्योग धन्धों में उनका वितरण करते हैं। अतएव जहाँ तक अधिकतम उत्पादन से पूर्ण रोजगार का सम्बन्ध है वहाँ तक यह प्रबन्ध रूस में सम्भव है।

साधनों का वितरण

सभी साधनों को काम में लगाना एक बात है परन्तु उनको भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों में लगाना दूसरी बात है। साधनों के भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों में भिन्न भिन्न मात्राओं में लगाने के फलस्वरूप भिन्न भिन्न वस्तुओं और सेवाओं का भिन्न भिन्न मात्राओं में उत्पादन होता है। इस उत्पादन का क्या स्वरूप है ? पूँजीवादी व्यवस्था में हमने देखा कि साधारणतः उसके अन्तर्गत वस्तुओं का उत्पादन लाभ की आशा से होता है। लाभ उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में सम्भव है जिनके लिए उपभोक्ता द्रव्य व्यय करने के लिए तत्पर हों। जिन उपभोक्ताओं के पास अधिक द्रव्य होगा उनके लिए अधिक वस्तुओं का उत्पादन भी किया जायगा। अर्थात् अधिक आय वाले व्यक्ति उत्पादन को अधिक प्रभावित कर सकेंगे। आवश्यकताएँ तो निर्धन लोगों की भी होती हैं परन्तु उनके लिए उत्पादन नहीं होता क्योंकि उनकी आवश्यकताओं को आय का सहारा नहीं होता है। अतएव पूँजीवादी व्यवस्था में धनी लोगों के आराम तथा विलासिता की वस्तुओं का भी उत्पादन होता है, जब कि गरीब लोगों के लिए जीवन निर्वाह तक की वस्तुओं का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन नहीं होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन वस्तुओं के उत्पादन से उत्पादकों को अधिकतम लाभ होता हो उनसे समाज का भी अधिकतम कल्याण हो यह आवश्यक नहीं है।

कहा जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में ऐसा नहीं होने पायेगा । इस व्यवस्था में उत्पादक तो केवल एक ही है अर्थात् सारा समाज, जिसका प्रतिनिधित्व राज्य द्वारा होता है । अतएव यदि उत्पादन कार्य में लाभ होता है तो वह सारे समाज का लाभ है । राज्य अथवा योजना-आयोग जब साधनों का विविध उद्योग-धन्धों में वितरण करता है तो उसका लक्ष्य समाज का अधिकतम कल्याण ही रहता है । किन वस्तुओं और सेवाओं से समाज का अधिकतम हित होगा इसका अनुमान लगाने का प्रयत्न अधिकारी वर्ग अपने बुद्धि-विवेक से अथवा किसी-न-किसी प्रकार से उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं का ज्ञान प्राप्त करके करते हैं एवं उपलब्ध साधनों का इसी अनुमान के आधार पर भिन्न-भिन्न मात्राओं में भिन्न-भिन्न उद्योग धन्धों में वितरण करते हैं । स्पष्ट है कि इस विधि से जिन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होगा उनसे सारे समाज को अधिकतम सन्तोष होगा । योजना-आयोग कहाँ तक इस प्रकार की व्यवस्था करने में समर्थ होगा यह दूसरी बात है जिसकी विवेचना हम बाद में करेंगे ।

पूँजीवादी व्यवस्था में हमने देखा कि उसकी एक समस्या आर्थिक अस्थिरता की है—विशेष कर चक्रवत् अस्थिरता की । इस अस्थिरता का मुख्य कारण आर्थिक सम्बन्धों का असंगत हो जाना है । एक पूर्ण रूप से योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में पहले से ही सभी सम्बन्धों में संगति लाने की चेष्टा की जाती है । उदाहरण के लिए, एक प्रकार की असंगति बचत और विनियोग के साम्य में होती है । पूँजीवादी देशों में बचत और विनियोग करनेवाले व्यक्ति अथवा संस्थाएँ हमेशा एक ही नहीं होते हैं । बचत और विनियोग के प्रेरणात्मक तत्व भी अलग-अलग होते हैं अतएव इनमें असंगति होने की बराबर सम्भावना रहती है । समाजवादी व्यवस्था में बचत और विनियोग का सामञ्जस्य सुविधापूर्वक हो जाता है क्योंकि दोनों ही कार्य योजना के अधीनस्थ होते हैं । व्यक्तिगत बचत का विनियोग में महत्व नहीं है क्योंकि विनियोग सार्वजनिक क्षेत्र में होता है । यदि

किसी कारण से योजना के कार्यान्वित होने के अवसर पर किसी प्रकार की असंगति उत्पन्न हो भी जाती है तो उसको तुरन्त ठीक करने का प्रयत्न किया जाता है। अतएव उत्कर्ष और अपकर्ष-रूपी आर्थिक चक्र समाजवादी व्यवस्था में हो नहीं सकते, विशेष कर आर्थिक मन्दी; जिससे पूँजीवादी देश हमेशा आतंकित रहते हैं और जिसके कारण बड़ी मात्रा में साधनों में बेकारी आ जाती है, इस व्यवस्था में नहीं रहती है। उदाहरण के लिए १९२९-३२ वाली विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी रूस की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में नहीं देखी गयी। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापनों पर साधनों का अपव्यय भी नहीं होने पायेगा, क्योंकि इसमें प्रतिस्पर्धात्मक उत्पादक होते ही नहीं हैं। अतएव अन्य बातें समान होने पर पूँजीवाद की अपेक्षा इस व्यवस्था में वास्तविक उत्पादन भी अधिक मात्रा में हो सकेगा।

आय का वितरण

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण व्यक्तिगत आय में समानता लाना समझा जाता है। कुछ लेखकों के मतानुसार समाजवाद का मौलिक सिद्धान्त न्याययुक्त वितरण है और वितरण ही समाजवाद की मुख्य आर्थिक समस्या है। पूँजीवाद की मान्यताएँ तथा संस्थाएँ ही ऐसी होती हैं जिनसे आय की असमानता, और वह भी बड़े रूप में, स्वाभाविक होती ही है। इस बड़े परिमाण की असमानता को अब पूँजीवादी देशों में भी अच्छा नहीं समझा जाता है। इसको कम करने के लिए विशेष तौर पर राजस्व-नीति का प्रयोग किया जाता है। आय के सम्बन्ध में समाजवादी व्यवस्था में एक बात याद रखने की यह है कि इसके अन्तर्गत निजी उत्पादक सम्पत्ति के अभाव में सम्पत्ति सम्बन्धी व्यक्तिगत आय नहीं होती है। यही आय पूँजीवादी देशों में मुख्यतः असमानता का कारण होती है क्योंकि उनमें अधिकांश उत्पादक सम्पत्ति थोड़े से व्यक्तियों के पास ही केन्द्रित होती है। समाजवादी व्यवस्था में सभी व्यक्तिगत आय

पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त होती है। पारिश्रमिक का स्तर भी योजना द्वारा निर्धारित होता है। अतएव आय के वितरण की समस्या का समाधान सर्वोच्च राज्य स्तर पर किया जा सकता है।

आय के वितरण के सिद्धान्त

समाजवादी साहित्य में आय के वितरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार सिद्धान्त मिलते हैं —

- (१) प्रत्येक व्यक्ति को समान आय प्राप्त हो।
- (२) आय का वितरण समाज के प्रति की हुई सेवाओं के अनुरूप हो।
- (३) आय का वितरण आवश्यकतानुसार हो।
- (४) आय का वितरण कार्यक्षमता के आधार पर हो।

सभी व्यक्तियों को समान आय मिलनी चाहिए यह सिद्धान्त प्राकृतिक रूप में व्यक्तियों की समानता पर आधारित है। यदि शब्दशः इस सिद्धान्त के अनुसार आय का वितरण किया जाय तो बच्चों, बूढ़ों, युवा, रोगी, स्वस्थ, परिश्रमी, आलसी, अच्छे, बुरे इत्यादि में कोई अन्तर नहीं रहेगा जो कि एक असंगत बात है। आय के वितरण का यह आधार समाजवादी व्यवस्था में कभी व्यवहार में लाया भी नहीं गया है।

जहाँ तक किसी भी व्यक्ति की समाज के प्रति की गयी सेवाओं का प्रश्न है, इसकी माप करना निरपेक्ष और सापेक्ष रूप में भी दुष्कर कार्य है। बाजार के साधनों द्वारा तो यह माप हो नहीं सकती है। योजना-अधिकारी येन केन प्रकारेण इसका अनुमान लगाने की चेष्टा करेंगे, यदि इस सिद्धान्त पर आय का वितरण करना उचित समझा जाय।

आवश्यकता के अनुसार आय का वितरण करना यह साम्यवादियों का प्रसिद्ध नारा है। परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार वितरण करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। आवश्यकताओं का निर्धारण कौन करेगा? व्यक्ति अथवा अधिकारी वर्ग? चूँकि समाजवादी पद्धति में भी सभी

व्यक्तियों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है, अतएव यह निर्णय करना पड़ेगा कि किस आवश्यकता की पूर्ति किस अंश तक की जाय। यह निर्णय किस प्रकार होगा ? परिवार और कर्त्ता का उदाहरण यहाँ पर लागू करने में कठिनता होती है। लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को उनकी आवश्यकतानुसार प्राथमिकता के आधार पर वितरण करना अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

चौथा आधार योग्यता का है। प्रश्न यह है कि योग्यता की जाँच तथा निर्णय किस प्रकार किया जाय। स्पष्ट है कि यह जाँच और निर्णय अधिकारी वर्ग द्वारा ही होगा और उनकी मरजी पर निर्भर रहेगा कि वे डाक्टर, इंजीनियर, लेखक, सिनेमा की तारिका इत्यादि नाना प्रकार के कार्यकर्त्ताओं की सापेक्ष योग्यताओं की जाँच करके तदनुसार उनकी आय निर्धारित करें। इनकी सेवाओं का कोई बाजार तो होता नहीं। अतएव योग्यता तथा कार्य-क्षमता का निर्णय पूँजीवादी देशों की तरह नहीं हो सकता है। ये लोग जो कुछ सेवा करते हैं अथवा वस्तुओं के उत्पादन में इनकी जो देन है उसका भी मूल्यांकन योजनाधिकारी ही करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवादी प्रथा के इन सभी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ हैं। व्यवहार में इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर ही पारिश्रमिक निर्धारित किया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पारिश्रमिक के निर्धारण में कार्य-क्षमता को पर्याप्त महत्व दिया जाता है जिससे श्रमिकों को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता रहे। रूस में भी पारिश्रमिक के निर्धारण में कार्य-क्षमता तथा उत्पादकता को ही आधार माना गया है।

समाजवादी व्यवस्था में यह बात माननी ही पड़ती है कि उसके अन्तर्गत आय में उतनी विषमता नहीं रहती है जितनी पूँजीवादी व्यवस्था में। जैसा कि हम लिख आये हैं, इस असमानता के कम होने का एक कारण उत्पादक साधनों का समाजीकरण है। इसके अतिरिक्त विविध प्रकार के पारिश्रमिकों के निर्धारण में भी यह बात ध्यान में रखी जाती है।

है कि अधिकतम और न्यूनतम पारिश्रमिकों में बहुत अधिक अन्तर न हो। एक अनुमान के आधार पर रूस में औसतन यह अन्तर २० और १ के अनुपात में है, यद्यपि एक और अनुमान इस अन्तर को १०० और १ के अनुपात तक का बतलाता है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में विविध प्रकार के सामाजिक सुरक्षा-कार्यों द्वारा भी आय की असमानता में कमी लाने की चेष्टा की जाती है। इस प्रकार के प्रबन्ध पूंजीवादी व्यवस्था में भी होते ही हैं। परन्तु ऐसा समझा जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में इनकी व्यापकता अधिक होगी। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था में निःशुल्क शिक्षा तथा ट्रेनिंग के प्रबन्ध से सभी को समान अवसर प्राप्त रहेंगे। इससे भी समानता को प्रोत्साहन मिलेगा। रूस में भी शिक्षा और सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध हो रहा है। बहुत कम समय में वहाँ सभी व्यक्ति साक्षर हो गये हैं।

श्रम की प्रतिष्ठा और आर्थिक स्वतन्त्रता

पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम को भी किसी वस्तुविशेष की तरह ही बिक्री की वस्तु जैसा समझा जाता है। अन्य वस्तुओं के बाजार की तरह श्रम का बाजार भी होता है जिसमें पूँजीपति-क्रेता और मजदूर-विक्रेताओं के बीच व्यक्तिगत रूप में अथवा सामुदायिक रूप में परस्पर मोल-भाव द्वारा श्रम का मूल्य (पारिश्रमिक) निर्धारित होता है। श्रमिकों को उत्पादन की नीति निर्धारित करने में अथवा प्रबन्ध में कोई स्थान प्राप्त नहीं होता है और न उनके कोई विशेषाधिकार ही होते हैं। अतएव श्रमिकों को कोई आदर अथवा प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त नहीं होता है। पूँजीपति उनको हेय दृष्टि से देखते हैं। समाजवादी व्यवस्था में सिद्धान्त रूप में श्रमिकों को कार्य करने का अधिकार है और यह समाज का (राज्य द्वारा) कर्तव्य है कि प्रत्येक कार्य करने योग्य व्यक्ति के लिए कार्य उपलब्ध करे। इस व्यवस्था में पूँजीपति के रूप में उनका कोई नियोजक नहीं होता है। पारिश्रमिक के लिए मोल-भाव नहीं होता है। योजना निर्माण

में और उत्पादन के प्रबन्ध में उनका प्रतिनिधित्व रहता है। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था में श्रम को सम्मान प्राप्त है।

जहाँ तक आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न है, ऐसा कहा जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में प्रजातन्त्र राज्य रहता है, जिसमें सभी वयस्क व्यक्तियों को मत देने का अधिकार प्राप्त रहता है। इस व्यवस्था में सभी व्यक्ति श्रमिक ही होते हैं, अतएव इसको श्रमिकों का ही राज्य कहा जाता है। जितनी भी आर्थिक क्रियाएँ होती हैं वे सभी श्रमिकों की सरकार द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं और उसी की देख-रेख में सम्पादित भी होती हैं। यद्यपि सुविधा के लिए आर्थिक योजना का कार्य थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होता है परन्तु यह योजना-आयोग अन्ततोगत्वा नागरिकों के प्रति उत्तरदायी रहता है। व्यक्तिगत रूप में भी समाजवाद में अपने पसन्द की उपभोग्य वस्तुएँ उनको खरीदने की स्वतन्त्रता रहती है। उनको इस बात की भी स्वतन्त्रता रहती है कि वे चाहे जिस किसी उद्योग धन्वे में काम करें।

समाजवादी अर्थव्यवस्था की कमजोरियाँ और कठिनाइयाँ

सबसे पहले हम समाजवाद की एक मूल समस्या की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। यह समस्या है समाजवाद को व्यवहार में लाने की विधि। यदि यह मान भी लिया जाय कि समाजवादी व्यवस्था पूँजीवाद से श्रेष्ठ है, तो भी प्रश्न यह है कि किस विधि से यह व्यवस्था स्थापित की जाय। इस सम्बन्ध में दो मार्ग बतलाये जाते हैं। एक मार्ग है उग्रवादियों का, जो यह कहते हैं कि हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का अन्त करके उसकी सभी संस्थाओं का अन्त करते हुए समाजवाद की स्थापना करनी चाहिए। दूसरा मार्ग विकासवादियों का है, जिसके अनुसार शनैः-शनैः समाजवाद की स्थापना होनी चाहिए। हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा सरकार का तख्ता उलटकर और पूँजीपति तथा जमीन्दारों को बिना मुआवजा दिये उनकी सम्पत्ति छीनकर समाजवाद की शीघ्रता से स्थापना की जा सकती है। कुछ लोगों की धारणा है कि यही एक

विधि है जिससे समाजवाद की वास्तविक रूप में स्थापना हो सकती है। परन्तु इस विधि में रक्तपात की आशंका है। यह भी सम्भव है कि इस मारकाट के फलस्वरूप अनेक उद्योग-धन्धों के गूढ़ तत्वों को जानने-समझने वाले तथा कुशल व्यवस्थापकों और प्रबन्धकों की सेवाओं से देश को वञ्चित रहना पड़े। रूस का इतिहास साक्षी है कि किस प्रकार वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी ने सम्पत्ति वालों के साथ ज्यादतियाँ कीं और बहुतों को किसी-न-किसी बहाने मौत के घाट उतार दिया अथवा उनका निर्वासन कर दिया। खेती के समूहीकरण में 'कुलकों' का हत्याकाण्ड भी इसी श्रेणी में आता है। इसके अतिरिक्त इस बात की भी आशंका बनी रहती है कि जिस संस्था द्वारा क्रान्ति का आयोजन हुआ वह बाद में तानाशाही रूप न धारण कर ले।

विकासवादी समाजवाद

शान्तिमय उपायों से विकासवादी प्रथा द्वारा समाजवाद की स्थापना करने के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है और अधिकतर समाजवाद के शुभचिन्तक इसी मार्ग के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि धीरे-धीरे एक उद्योग के बाद दूसरे का राष्ट्रीयकरण होता रहे और अन्ततोगत्वा जब सभी उद्योग-धन्धे सार्वजनिक क्षेत्र में आ जायेंगे तब स्वयमेव समाजवाद की स्थापना हो जायगी। यह मार्ग लगता तो सरल और सुगम है परन्तु इसमें भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। एक कठिनाई तो यह है कि यदि लोगों को विश्वास हो जाय कि भविष्य में कभी न कभी उनके उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण हो जायगा तो वे उनमें दिलचस्पी लेना कम कर देंगे अथवा उनको बन्द कर देंगे। फलस्वरूप इनकी कार्य-कुशलता कम होती जायगी। उत्पादक सामग्रियाँ पुरानी और घिसी-पिटी होती जायेंगी, उनके नवीनीकरण का कुछ प्रबन्ध न होगा। नयी पूँजी लगाने की बात का तो कोई प्रश्न ही नहीं। इस प्रकार देश की आर्थिक हानि होगी और राष्ट्रीयकरण के अवसर पर ये उद्योग-धन्धे शोचनीय दशा में मिलेंगे। इस

दृष्टिकोण से एकबारगी ही उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण वांछित प्रतीत होता है ।

दूसरी समस्या है पूँजीपति और जमींदारों को मुआवजा देने की । क्या मुआवजा दिया जाना चाहिए ? यदि दिया जाना चाहिए तो कितना और किस रूप में ? कुछ समाजवादी चाहते हैं कि मुआवजा बिल्कुल ही न दिया जाय । परन्तु समाजवाद के अधिकांश समर्थक मुआवजा देने के पक्ष में हैं । यदि मुआवजा दिया जाय तो कितना दिया जाय और किन शर्तों पर, इस विषय में अनेक मत हैं । एक मत है कि पूरा मुआवजा देना चाहिए और बिना किसी शर्त के । यदि ऐसा किया गया और नकदी के रूप में मुआवजा माँगा गया तो प्रश्न यह है कि यह धन कहाँ से आयेगा । यदि करों द्वारा वसूल करने की चेष्टा की गयी तो जनता पर करों का भार बहुत बढ़ जायगा और सम्भव है वह इसका विरोध करे । यदि केवल सम्पत्तिशाली व्यक्तियों से ही कर वसूल किये गये तो उनको मुआवजा ही क्या मिला । यदि नोट छापकर मुआवजा दिया गया तो मुद्रा-स्फीति होने की आशंका रहती है जिसके फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि होने से द्रव्य की क्रय-शक्ति कम हो जायगी । इसके अतिरिक्त जिनको मुआवजा मिलेगा वे उसी प्रकार बिना श्रम किये आराम से रह सकेंगे, जो समाजवादियों को मान्य न होगा ।

इन सभी कठिनाइयों के कारण यह कहा जाता है कि मुआवजा ऋणपत्रों के रूप में दिया जाय । ये ऋणपत्र हस्तांतरित न किये जा सकेंगे । मुआवजा भी सबको पूरा न दिया जाय । अधिक सम्पत्ति वालों को कम दर से और बहुत कम सम्पत्ति वालों को पूरा मूल्य दिया जा सकता है । ये ऋणपत्र भुनाये नहीं जा सकेंगे और न इन पर उत्तराधिकार का अधिकार रहेगा । इनके स्वामियों को उनके जीवनकाल तक अथवा कुछ अवधि विशेष तक ही एक निर्धारित दर से ब्याज दिया जायगा ।

पूँजीवाद को समाजवाद में परिवर्तित करने का कार्य कौन करेगा ? राज्य की आर्थिक सत्ता सामान्यतः पूँजीपतियों के हाथ में रहती है । वे

विधान द्वारा ऐसा करने में बाधाएँ उपस्थित करेंगे। यदि मतदाता ऐसे व्यक्तियों को विधानसभाओं के लिए चुनें जिनका दृष्टिकोण समाजवादी हो तो उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण का कानून बन सकता है और मुआवजे के बारे में भी यथोचित कार्यवाही की जा सकती है। परन्तु मतदाताओं को इस दिशा में शिक्षित करना कठिन कार्य है। विद्यालय इत्यादि शैक्षिक संस्थाएँ भी पूँजीपतियों के अधीन रहती हैं। मजदूर-वर्ग से यह आशा की जा सकती है, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे पूँजीवादी देशों में अनेक मजदूर संस्थाएँ पूँजीवाद के दायरे में ही अपनी आर्थिक व्यवस्था में सुधार करना चाहती हैं। हाँ, आजकल सभी देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं, श्रमिकों तथा किसानों को वे इस दिशा में तैयार कर रही हैं। कहा नहीं जा सकता कि इस काम में कितना समय लमेगा और सफलता मिलेगी अथवा नहीं। तात्पर्य यह है कि वैधानिक उपायों द्वारा शान्तिपूर्वक समाजवाद की स्थापना करना सुगम और सुलभ कार्य नहीं है।

उत्पादन में श्रुटियाँ

इसमें संदेह है कि समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन की मात्रा पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक होगी और उसके अन्तर्गत भिन्न भिन्न साधनों का वितरण समाज के हित के लिए अधिक अनुकूल होया। यह तो ठीक है कि केन्द्रीय स्तर पर सर्वांगीण आयोजित व्यवस्था में उत्पत्ति के साधन बेकार पड़े नहीं रहेंगे। परन्तु उत्पत्ति के साधनों के पूर्ण रूप से निरन्तर काम में लगे रहने से ही उत्पादन अधिकतम नहीं हो जाता है। इस सम्बन्ध में दो मुख्य बातें ध्यान में रखने की हैं—एक है साधनों की उत्पादकता, विशेष रूप में श्रम की, और कार्यक्षमता को कार्यान्वित करने के लिए प्रेरणा तथा प्रोत्साहन। दूसरी है साधनों का उचित अनुपात में एक दूसरे के साथ सम्मिश्रण।

साधनों की उत्पादकता

जहाँ तक साधनों की उत्पादकता का प्रश्न है, समाजवादी व्यवस्था

में भी मशीन इत्यादि उत्पादक उपकरण पूँजीवादी व्यवस्था के उपकरणों के समान ही उच्च कोटि के निर्मित किये जा सकते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में भी वैज्ञानिक, यांत्रिक तथा अन्य योग्य व्यक्ति अनुसंधान और गवेषणा के कार्यों द्वारा उत्पादक सामग्रियों और उत्पादन-विधियों में उत्तरोत्तर उन्नति कर सकते हैं। वर्तमान रूस में यह सब हो रहा है। वहाँ के वैज्ञानिकों ने कुछ क्षेत्रों में अमेरिका सदृश पूँजीवादी देशों को पछाड़ दिया है। बिजली, इस्पात, रसायन, खनिज, यातायात सम्बन्धी और अन्य उद्योग-धन्धों में उसने विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। ट्रैक्टरों और अन्य भारी मशीनों का उत्पादन-क्षेत्रों में प्रयोग हो रहा है। श्रमिकों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए शिक्षा तथा विविध प्रकार की ट्रेनिंग का प्रबन्ध हो रहा है।

परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी ऐसा समझा जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में श्रमिक उतनी लगन से काम नहीं करेंगे जितनी लगन से वे पूँजीवादी व्यवस्था में करते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि साधारणतः मनुष्य उस धन्धे की, जिसमें उसका स्वामित्व है, अधिक मनोयोग के साथ देख-रेख करता है और उसमें अधिक लगन से काम करता एवं अपव्यय कम करने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने से उसका निजी लाभ होता है जो कि उसको प्रेरणा देता रहता है। जिस उद्योग में उसका स्वामित्व नहीं होता है उसकी सफलता में उसको इतना उत्साह नहीं रहता है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह पूरी लगन और कुशलता से कार्य करने को बाध्य नहीं होता है। अतएव उत्पादन की मात्रा उतनी नहीं हो पाती है जितनी हो सकती है। प्रेरणा और प्रोत्साहन जागृत करने के लिए और उनको बनाये रखने के लिए अन्य साधनों का प्रयोग करना पड़ता है।

रूस में भी अभी तक श्रमिकों की उत्पादकता संयुक्त राज्य अमेरिका के श्रमिकों की उत्पादकता के समकक्ष नहीं आ पायी है। यद्यपि रूस में भी योग्यतानुसार ही प्रतिफल के आधार पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है परन्तु वहाँ पारिश्रमिकों में असमानता कम करने का लक्ष्य भी है। ये दोनों

लक्ष्य अर्थात् व्यक्तिगत अधिकतम उत्पादकता की आशा और व्यक्तिगत पारिश्रमिकों की असमानता में कमी करना परस्पर विरोधी है। अतएव रूस में पारिश्रमिक सम्बन्धी आर्थिक प्रेरकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रेरकों का भी प्रयोग किया जाता है। इन प्रेरकों का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। ऐसा समझा जाता है कि ये प्रेरक उत्पादकता बढ़ाने में साधारणतः उतने सफल नहीं होते हैं जितने कि आर्थिक प्रेरक होते हैं।

जहाँ तक पूर्ण-रोजगार का प्रश्न है, हमने पिछले अध्याय में बतलाया कि कभी कभी ऐसा भी होता है कि इस प्रकार का पूर्ण-रोजगार दिखावा मात्र होता है। उदाहरणार्थ कृषि-कार्य में चाहे जितने लोगों को काम में लगा दिया जा सकता है। परन्तु यह एक प्रकार से बेरोजगारी को छिपाना हुआ। इन अतिरिक्त श्रमिकों को लगाने से उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि पहले से ही वहाँ पर्याप्त मात्रा में श्रमिक हैं। इसी प्रकार जबर-दस्ती पुलों, सड़कों, नहरों इत्यादि के कार्यों में नाम मात्र का पारिश्रमिक देकर पूर्ण-रोजगार की स्थिति दिखलाने का प्रयत्न करना इस शब्द का दुरुपयोग है।

समाजवादी व्यवस्था में आर्थिक गणित

कौन कौन सी वस्तुओं तथा सेवाओं का किस किस मात्रा में उत्पादन किया जाय तथा उत्पादक-साधनों का प्रत्येक धन्धे में किस अनुपात से प्रयोग किया जाय, इन बातों के निर्णय के लिए गणित की क्रिया की आवश्यकता पड़ती है। एक प्रकार से सभी युक्तिसिद्ध आर्थिक क्रियाओं का मूल्य से सम्बन्ध रहता है। कोई भी आर्थिक निर्णय करना हो उसमें किसी न किसी रूप में मूल्यों की तुलनात्मक क्रिया निहित रहती है। किस वस्तु का निर्माण किया जाय, किसी भी वस्तु का कितना निर्माण किया जाय, किसी भी परिमाण में किसी वस्तु के निर्माण के लिए प्रत्येक साधन को किस किस अनुपात में लिया जाय, कौन सी वस्तु खरीदी जाय, विविध वस्तुओं को

किस किस मात्रा में खरीदा जाय, इस प्रकार के सभी आर्थिक प्रश्नों को हल करने के लिए तत्सम्बन्धी मूल्यों की तुलना करनी पड़ती है। बिना तुलना किये भी निर्णय किया जा सकता है, परन्तु यह निर्णय मनमाना होगा; विवेकात्मक, बुद्धि-संगत तथा युक्तिसिद्ध न होगा।

हम पिछले अध्यायों में बतला चुके हैं कि पूँजीवादी अर्थ-पद्धति में सभी वस्तुओं, साधनों तथा सेवाओं का बाजार होता है। इनमें प्रत्येक वस्तु, सेवा तथा साधन का उससे सम्बन्धित माँग और पूर्ति के संघात के फलस्वरूप तथा क्रेताओं और विक्रेताओं की प्रतिस्पर्धात्मक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं द्वारा मूल्य निर्धारण हो जाता है। परिवर्तन-शील आर्थिक जगत् में इन सम्बन्धों में परिवर्तन होता रहता है और फल-स्वरूप मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। कोई भी उत्पादक अथवा उपभोक्ता इन मूल्यों के आधार पर आर्थिक निर्णय ले सकता है और उनके अनुसार आर्थिक कार्यों का सम्पादन कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि किसी उत्पादक को साधनों के अनुपात के सम्बन्ध में निर्णय करना हो तो वह उन साधनों के मूल्यों की तथा उनकी सहायता से निर्मित वस्तुओं के मूल्यों की तुलना करके इस प्रकार का निर्णय कर सकता है। किस वस्तु का वह उत्पादन करे इस सम्बन्ध में भी वह भिन्न भिन्न वस्तुओं के उत्पादन-मूल्यों (लागत-व्ययों) तथा उनके विक्रय-मूल्यों की तुलना द्वारा लाभ (अथवा हानि) की मात्रा का अनुमान लगाकर मालूम कर सकता है कि किस वस्तु को कितनी मात्रा में निर्माण करने से अधिक लाभ होगा।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के विरुद्ध एक बड़ा अभियोग यह है कि उसके अन्तर्गत आर्थिक गणित की क्रिया विधिवत् हो ही नहीं सकती है। इसका प्रधान कारण यह बतलाया जाता है कि इस व्यवस्था में उत्पादक साधनों का ऐसा बाजार नहीं होता है जहाँ बाजारी क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं द्वारा उनका मूल्य-निर्धारण हो सके। उपभोग की वस्तुओं का बाजार अवश्य होता है परन्तु इसमें भी मूल्य-निर्धारण की क्रिया स्वतन्त्र नहीं होती है। इन मूल्यों का निर्धारण भी ऊपर से योजनाधिकारी ही करते हैं। अर्थात्

समाजवादी व्यवस्था में मूल्य-पद्धति उपभोक्ताओं की सापेक्ष आवश्यकताओं को तथा उत्पादकों के लागत-व्ययों को प्रतिबिम्बित नहीं करती है। वह योजनाधिकारियों के निर्णयों को ही सूचित करती है। इस प्रकार की व्यवस्था में आर्थिक गणित की क्रिया में पूंजीवाद के समान सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो सकती हैं।

समाजवादी प्रथा में आर्थिक गणित हो सकता है अथवा नहीं, यह गत तीन दशकों से एक अति विवादग्रस्त विषय बन गया है। इसमें उग्र मत-भेद है। एक मत यह है कि उत्पादक सामग्रियों और उपकरणों के बाजार के अभाव में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक गणित की क्रिया असम्भव है। अतएव इस व्यवस्था में इस बात का निर्णय नहीं हो सकता है कि कोई भी उत्पादन-क्रिया न्यूनतम लागत-व्यय के सिद्धान्त के आधार पर हो रही है अथवा नहीं। इस बात का भी पता नहीं लग सकता है कि समाज की अधिकतम सन्तुष्टि किन किन वस्तुओं तथा सेवाओं की किन किन मात्राओं में निर्माण करने से होगी। इसका कारण यह है कि उपभोग की वस्तुओं के मूल्य बाजार क्रियाओं द्वारा नहीं अपितु योजनाधिकारियों द्वारा निश्चित किये जाते हैं। इस मत के अनुसार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में जो कुछ भी आर्थिक निर्णय किये जाते हैं तथा आर्थिक क्रियाएँ सम्पादित होती हैं वे अटकलपच्चू ढंग से होती हैं और उनमें अराजकता रहती है।

दूसरा मत यह है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक गणित बिलकुल सम्भव है तथा सभी निर्णय युक्तिसंगत होते हैं। यद्यपि इस व्यवस्था में उत्पादक साधनों का इस प्रकार का बाजार नहीं होता है जिस प्रकार का पूंजीवादी पद्धति में होता है, परन्तु बाजार की कल्पना की जा सकती है। योजनाधिकारी प्रत्येक उत्पादक साधन पर “मूल्य” रख सकते हैं और उत्पादन-इकाई के मैनेजरो को इन्हीं “मूल्यों” पर उत्पादक साधन उपलब्ध होते हैं। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के मैनेजर पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के मैनेजरो की तरह भिन्न भिन्न साधनों को इस अनुपात में लगा सकते हैं जिससे लागत-व्यय न्यूनतम हो। इस प्रकार गणित की क्रिया चल

सकती है। इस तर्क को मान लेने पर भी प्रश्न यह होता है कि योजना-धिकारी किस आधार पर उत्पादन-साधनों का "मूल्य"-निर्धारण करते हैं? इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सका है। कभी कहा जाता है कि समाजवादी व्यवस्था के पूर्व इन साधनों के मूल्य तो थे ही। यह व्यवस्था कोई शून्य से तो प्रारम्भ नहीं की जा रही है। अतएव उन मूल्यों का आधार लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी देशों में जो मूल्य प्राप्त हैं, उनका भी सहारा लिया जा सकता है। इस प्रकार प्राप्त मूल्यों में यथोचित परिवर्तन करके उनको समाजवादी व्यवस्था के अनुकूल बनाया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार बने आर्थिक गणित को वह महत्व प्राप्त नहीं हो सकता है जो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में होता है। काल्पनिक बाजार वास्तविक बाजार के समकक्ष नहीं रखा जा सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक गणित की कठिनाइयों के फलस्वरूप भिन्न भिन्न उद्योग-धन्धों में भिन्न भिन्न मात्राओं में साधनों का वितरण और भिन्न भिन्न अनुपात में उनका संयोग करना और भिन्न भिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं का भिन्न भिन्न मात्राओं में समाज की अधिकतम सन्तुष्टि के लिए उत्पादन दुःसाध्य हो जाता है। वर्तमान काल में समाजवादी अर्थशास्त्री इस समस्या के समाधान में दत्तचित्त हैं। उन्होंने कुछ समाधान निकाले भी हैं परन्तु उनको कार्यान्वित करना कठिन प्रतीत होता है।

आर्थिक स्थिरता

समाजवादी व्यवस्था में इस बात का गर्व किया जाता है कि उसके अन्तर्गत पूँजीवादी आर्थिक अस्थिरताएँ नहीं पायी जाती हैं। यह सही है कि जो अस्थिरताएँ निजी उद्योग-धन्धों में असंगति हो जाने के फलस्वरूप उत्पन्न हो जाती हैं वे एक केन्द्रीय स्तर पर आयोजित अर्थ-व्यवस्था में नहीं पायी जायेंगी। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस व्यवस्था में किसी प्रकार की अस्थिरता होगी ही नहीं। एक प्रकार की अस्थिरता प्राकृ-

तिक कारणों से होती है, जैसे बाढ़, भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि इत्यादि द्वारा। इनका प्रभाव विशेष रूप में कृषि-उद्योग-धन्धों पर पड़ता है। क्योंकि ये उद्योग अन्य उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध करते हैं तथा उपभोक्ताओं के लिए भोजनसामग्री का भी उत्पादन करते हैं अतएव, यदि इस क्षेत्र में अस्थिरता हो जाती है तो वह अन्य क्षेत्रों में भी अस्थिरता का प्रादुर्भाव कर देती है। इस प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं पर मनुष्य का पूर्ण रूप से नियंत्रण अभी तक नहीं हो सका है। इसी प्रकार महायुद्धों का प्रभाव भी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में अस्थिरता ला सकता है। तकनीकी परिवर्तनों द्वारा भी अस्थिरता आ जाती है। श्रमिकों की प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ भी अस्थिरता का कारण हो सकती हैं। यदि ये सभी बातें अनुकूल भी हों तब भी योजनाधिकारियों के योजना-निर्माण की भूलों और गलतियों के फलस्वरूप भी अस्थिरता उत्पन्न हो सकती है। योजनाधिकारी कोई सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी तो होते नहीं हैं।

आय का वितरण

यह तो हम बतला आये हैं कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिगत आयों में अधिक असमानता न होने की कल्पना की जाती है। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि क्या विभिन्न योग्यताओं, विशेषताओं और कार्य-क्षमताओं वाले कार्यकर्ताओं के पारिश्रमिकों में साधारण सा अन्तर उन सभी को लगन के साथ कार्य करने के लिए प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देता रहेगा। निम्न स्तर पर प्रतिफल के अनुसार पारिश्रमिक देने की योजना द्वारा प्रेरणा बनायी जा सकती है। पर उच्च स्तरों पर कार्य करनेवाले व्यक्तियों (जैसे मैनेजर, डाइरेक्टर, वैज्ञानिक, अन्वेषक इत्यादि) के सम्बन्ध में संभव है कि इस प्रकार की आय का वितरण निरुत्साहिता उत्पन्न कर दे। यदि ऐसा हुआ तो कुल उत्पादन में कमी आ जायगी और आय का चाहे जितनी समानता के साथ वितरण हो वह प्रत्येक के हिस्से में कम ही पड़ेगी। आय में असमानता कम करना और प्रेरणा बनाये रखना इन दोनों में संगति

बैठाना मनुष्य की प्रकृति को देखते हुए कठिन ही है। यही कारण है कि समाजवाद में आर्थिक प्रोत्साहन के अतिरिक्त अपर प्रोत्साहनों का भी प्रयोग किया जाता है, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। समाजवादी यह भी आशा करते हैं कि आनेवाली पीढ़ी, जिसकी शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण समाजवादी वातावरण तथा मान्यताओं के आधार पर होगा, आर्थिक प्रेरकों को इतना महत्व नहीं देगी जितना कि वर्तमान संक्रमण काल से गुजरती हुई पीढ़ी देती है। रूस में, जैसा पिछले अध्याय में बताया गया, आर्थिक प्रेरकों के अतिरिक्त अन्य प्रेरकों द्वारा श्रमिकों को लगन के साथ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। अब वहाँ नयी पीढ़ी तैयार हो गयी है परन्तु अभी भी वहाँ प्रायः सभी स्तरों में श्रमिकों की कार्य-कुशलता कम ही है।

यह भी कहा जाता है कि रूस में वास्तव में आय की विषमता उतनी कम नहीं है जितनी बतलायी अथवा समझी जाती है। प्रतिपक्षियों का कहना है कि जो वस्तुएँ अथवा सेवाएँ सरकार द्वारा बिना मूल्य के उपलब्ध की जाती हैं उनका वितरण इस प्रकार से होता है कि आय की असमानता में वृद्धि होती है। अर्थात् अधिक आय वाले व्यक्तियों को विविध प्रकार की उत्कृष्ट स्तर की जो सुविधाएँ उपलब्ध हैं वे सामान्य आय वाले व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं हैं। इस भेद-भाव के फलस्वरूप वास्तविक आय की विषमता में वृद्धि होती है।

श्रम का सम्मान तथा उसकी स्वतन्त्रता

जिस अर्थ-व्यवस्था में पूँजीपति तथा भूमिपति न हों और केवल श्रम ही व्यक्तिगत आय का साधन हो उसमें श्रम को विशिष्ट स्थान प्राप्त होना ही चाहिए। परन्तु इसमें भी अपवाद हैं। श्रम को सम्मान प्राप्त होने पर भी प्रत्येक स्तर के श्रमिकों को प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं रहती है। श्रमिक अनेक प्रकार के नियमों के बन्धन में कार्य करते हैं। श्रम-संघों को नाम मात्र की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। नियमों के उल्लंघन करने पर कड़ा दंड दिया जाता है।

श्रमिकों को कभी कभी बिना उनकी मर्जी के न्यूनतम मजदूरी पर काम करने को बाध्य किया जाता है।

जहाँ तक आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न है, यह भी बहुत अंश में दिखा-वटी ही है। एक व्यापक रूप में आयोजित आर्थिक व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कल्पना करना प्रवंचना मात्र ही है। मान लीजिए, श्रमिकों को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वे चाहे जिस किसी उद्योग-धन्धे में कार्य करें। इसका परिणाम यह हो सकता है कि योजनानुसार जिन उद्योग-धन्धों में अधिक श्रमिकों की आवश्यकता हो वहाँ श्रमिक कम मात्रा में पहुँचें और जिनमें कम श्रमिकों की आवश्यकता हो वहाँ उनकी भीड़ लग जाय। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर अधिकारियों को पारिश्रमिक में भिन्नता लाकर अथवा डरा-धमका-कर श्रमिकों के वितरण में और योजना के उद्देश्यों में सामञ्जस्य लाना पड़ेगा। इसी प्रकार उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता भी मर्यादित ही रहती है। यद्यपि उपभोक्ताओं को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपनी आय को चाहे जैसे खर्च करें। परन्तु वे उन्हीं वस्तुओं को खरीद सकते हैं जो योजनाधिकारियों के आदेश से उत्पादित की जाती हैं और जिनके निर्णय में उपभोक्ता का कोई हाथ नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त यदि वे आयोजित मूल्य पर किसी वस्तु को उसकी पूर्ति से बड़ी मात्रा में खरीदना चाहें तो आवश्यक नहीं है कि उनकी इच्छा की पूर्ति हो सकेगी। उस वस्तु के उत्पादन में वृद्धि तभी होगी जब योजनाधिकारी इस प्रकार का आदेश दें। सम्भव है वे ऐसा करें, परन्तु यह अनिवार्य नहीं है। अर्थात् जो वस्तुएँ जिस प्रकार की उपलब्ध हैं उसी दायरे के भीतर उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता सीमित है। कभी कभी वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन करके इस स्वतन्त्रता को और भी सीमित कर दिया जाता है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान में रखने के योग्य है कि क्या एक सांगोपांग आर्थिक योजना की प्रजातन्त्र से संगति हो सकती है? सैद्धान्तिक रूप में इसमें किसी प्रकार की विषमता तो नहीं मालूम पड़ती है। परन्तु रूस के अनुभव से ऐसा मालूम होता है कि व्यवहार

में इस प्रकार की आर्थिक पद्धति को सफल बनाने के लिए एक निरंकुश प्रशासक वर्ग की आवश्यकता होती है। रूस में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में तानाशाही राज्य है। चुनाव-पद्धति में पार्टी का बोलबाला है। सभी प्रकार की सरकारी संस्थाओं और अविकारियों के प्रतिरूप पार्टी की संस्थाएँ तथा पदाधिकारी हैं। विधानसभा नाम मात्र को ही है। यह बिना किसी तर्क वितर्क के पार्टी के नेताओं के सुझावों को मान लेती है और भिन्न भिन्न पदों पर उन्हीं व्यक्तियों की नियुक्ति करती है जो इसको मान्य हों। इस प्रकार की परिस्थितियों में विधान में जो कुछ भी हो परन्तु नागरिकों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता अथवा अधिकार नहीं हैं। कम्युनिस्ट पार्टी न केवल वैधानिक और आर्थिक विषयों पर ही अपना नियंत्रण रखती है परन्तु वह शिक्षा, धर्म, संस्कृति इत्यादि क्षेत्रों पर भी नियंत्रण रखती है।

पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं के मूल्यांकन के पश्चात् यह नहीं कहा जा सकता है कि इनमें से कौन सी अधिक वाञ्छनीय तथा ग्राह्य समझी जानी चाहिए। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि एक आदर्श समाजवादी आर्थिक पद्धति उस पूँजीवादी आर्थिक पद्धति से श्रेष्ठ है जो व्यवहार में पायी जाती है और एक आदर्श पूँजीवादी पद्धति व्यवहार में देखी गयी समाजवादी आर्थिक पद्धति की अपेक्षा श्रेष्ठ है। दुर्भाग्य की बात है कि आदर्श पद्धति और उसके व्यावहारिक रूप में बहुत अन्तर पाया जाता है।

अध्याय १२

फासिस्ट अर्थव्यवस्था

जन्म और उद्देश्य

फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था पूंजीवाद और समाजवाद की व्यवस्थाओं के एक प्रकार के सम्मिश्रण की प्रतीति होती है। इसमें कुछ तत्व समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के पाये जाते हैं और कुछ पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के। परन्तु अपने उद्देश्य और विधियों में यह अर्थ-व्यवस्था इन दोनों से बहुत भिन्न है। कुछ लोगों के मतानुसार फासिस्ट व्यवस्था पूंजीवाद का ही उग्र रूप है जिसका प्रादुर्भाव विशेष प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं के कारण होता है। ये ऐतिहासिक घटनाएँ विकसित पूंजीवादी देशों के साम्राज्यवादी युद्धों से संबंधित होती हैं। ऐसा कहा जाता है कि युद्ध में पराजय के परिणाम-स्वरूप पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की प्रतिकूलताएँ देश के भीतर एक प्रकार का संकट उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार की परिस्थिति में फासिस्टवाद उत्पन्न होता है और जड़ पकड़ता है। यह राष्ट्रीयता की भावना को बल देता है, शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना चाहता है तथा युद्ध द्वारा प्रतिशोध की और विदेशी राज्यों को जीतने की आकांक्षा रखता है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक विशेष प्रकार की आर्थिक व्यवस्था की भी स्थापना की जाती है।

संक्षेप में फासिस्ट व्यवस्था की विचारधारा यह है कि अधिकार तथा सत्ता राज्य के पास रहती है न कि नागरिकों के पास। राज्य ही सब कुछ है। उसकी तुलना में व्यक्ति नगण्य है। राष्ट्र नागरिकों के समुच्चय से कहीं बड़ा है। राष्ट्र का अपना व्यक्तित्व है, अपना जीवन है और उसके

अपने लक्ष्य तथा उद्देश्य हैं। ये उद्देश्य सर्वदा व्यक्तिगत रूप में नागरिकों को पूर्णरूप से दृष्टिगोचर नहीं हो सकते हैं। अतएव यह सम्भव है कि यदि व्यक्तियों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो इसके फलस्वरूप राष्ट्र की हानि हो जाय। ऐसी परिस्थिति में व्यक्तिगत उद्देश्यों का नियंत्रण करते हुए राष्ट्र के उद्देश्यों को सर्वोपरि मानना चाहिए। व्यक्ति का स्थान अपने निमित्त नहीं परन्तु राष्ट्र को अपने उद्देश्यों की पूर्ति करवाने के लिए साधन रूप में होना चाहिए। राष्ट्र की लम्बी आयु में व्यक्तियों का महत्व अल्पकालीन है। व्यक्ति के कोई अपने अधिकार नहीं होते हैं, अपितु उसके राष्ट्र के प्रति कर्तव्य होते हैं जिनका किसी भी मूल्य पर उसको पालन करना है। व्यक्ति की यह अधीनता राष्ट्र के उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त है। अतएव उसको राष्ट्र की महानता और उसकी शक्ति पर गर्व और सन्तोष होना चाहिए। यही उसका मुआवजा है।

फासिस्ट व्यवस्था में प्रजातन्त्र को कोई महत्व प्राप्त नहीं है। साधारण व्यक्ति अपने काम-काज में इतना व्यस्त रहता है और राज-काज के मामलों में इतना अबोध रहता है कि उसको राज्य की नीतियों के निर्धारण करने का और सक्रिय रूप में सरकारी कामों में भाग लेने का अधिकार नहीं होना चाहिए। फासिस्ट प्रथा के अनुसार राज्य-शक्ति कुछ चुने हुए व्यक्तियों के हाथों में होनी चाहिए जो कि योग्य, साहसी तथा निर्भीक हों।

व्यावहारिक रूप में इस व्यवस्था में अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता, किसी प्रकार के सघ बनाने की स्वतन्त्रता और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता नहीं होती है। व्यक्तियों के विविध अधिकारों का भी हनन किया जाता है। नागरिकों की शिक्षा-दीक्षा पर भी फासिस्ट पार्टी का नियंत्रण रहता है जिससे कि उनके विचार और मनोभावना इस पार्टी की विचारधारा के अनुकूल बनें।

आर्थिक विचारधारा

जहाँ तक आर्थिक व्यवस्था का प्रश्न है, फासिस्ट विचारधारा अनेक

बातों में ऊपरी तौर पर पूँजीवादी पद्धति की सराहना करती है। उसके मतानुसार निजी सम्पत्ति, उद्योग-स्वतन्त्रता तथा प्रतिस्पर्द्धा अपने आपमें अच्छी संस्थाएँ तथा मान्यताएँ हैं, तथा एक सीमा के भीतर आर्थिक प्रेरणाएँ भी वाञ्छनीय ही हैं। पूँजीवादी उत्पादन की विधियाँ तथा व्यवहार भी उपयुक्त हैं। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के उद्देश्य उनको मान्य नहीं हैं। पूँजीवाद के प्रधान लक्ष्य उत्पादन को अधिकतम करना तथा नागरिकों के जीवनस्तर को उठाना और आर्थिक क्षेत्र में वृद्धि करना है। ये फासिस्टों के दृष्टिकोण में निम्न श्रेणी के लक्ष्य हैं। इनके मत में वाञ्छनीय उद्देश्य राष्ट्रीयशक्ति, प्रतिष्ठा तथा यश है जो कि आक्रमणात्मक युद्ध द्वारा उपलब्ध हो सकते हैं। सभी आर्थिक योजनाएँ, विधियाँ तथा उपलब्धियाँ इन्हीं को प्राप्त करने के साधन हैं। यदि इन उद्देश्यों की प्राप्ति में पूँजीवादी व्यवस्थाएँ रुकावट पैदा करती हैं तो राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है और यदि इनकी पूर्ति के सन्दर्भ में व्यक्तियों के जीवन-स्तर में गिरावट भी आ जाती है अथवा इनके अन्तर्गत श्रमिकों को दासपन भी प्राप्त हो जाता है तो इस की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था एक प्रकार से आयोजित अर्थ-व्यवस्था का रूप ले लेती है। परन्तु फासिस्ट व्यवस्था की योजना-पद्धति समाजवादी योजना-पद्धति से भिन्न होती है। जैसा हम देख आये हैं, समाजवादी योजना-पद्धति के अन्तर्गत सभी उत्पादक-साधनों पर राज्य का स्वामित्व रहता है तथा योजना भी सर्वांगीण होती है। आर्थिक क्रियाएँ आद्यान्त सर्वोच्च स्तर पर निर्द्धारित कर ली जाती हैं। परन्तु फासिस्ट पद्धति में उत्पादक सम्पत्ति पर राज्य का स्वामित्व नहीं होता है और न सार्वजनिक क्षेत्र में ही विशेष परिमाण में उत्पादन होता है। अपने आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राज्य अनेक प्रकार के नियंत्रण और हस्तक्षेप का सहारा लेता है, यद्यपि आर्थिक ढाँचा पूँजीवादी ही रहता है परन्तु वास्तव में प्रत्येक स्तर पर आदेश तथा नियंत्रण द्वारा इसकी कार्य-विधि को इस प्रकार प्रभावित किया जाता है जिससे फासिस्टों का उद्देश्य

सिद्ध हो सके। इस प्रकार से नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों तथा संस्थाओं का उत्पादक सम्पत्ति पर स्वामित्व तो होता है, वे उद्योग धन्धों का संचालन भी करती हैं और लाभ की आशा से प्रेरणा भी प्राप्त करती हैं, परन्तु कौन कौन सी वस्तुओं का उत्पादन किस किस मात्रा में किया जाय और साधनों के प्रयोग को किस प्रकार प्राथमिकता दी जाय इसका निर्धारण राज्य द्वारा (फासिस्ट नेताओं द्वारा) होता है। वस्तुतः वास्तविक उत्पादन निजी क्षेत्र में ही होता है और उसका प्रतिफल भी उसको ही प्राप्त होता है।

इटली में फासिज्म

फासिस्ट पद्धति का व्यावहारिक उदाहरण हम को इटली तथा जर्मनी की अर्थ-व्यवस्था में मिलता है, जहाँ मुसोलिनी और हिटलर के नेतृत्व में यह पद्धति पर्याप्त रूप में विकसित तथा सफल रही। यद्यपि कुछ-अन्य देशों की पद्धतियाँ भी फासिस्ट पद्धति के ही समान रही हैं परन्तु वे इटली और जर्मनी की तरह विकसित नहीं हो पायीं।

इटली में फासिस्ट आन्दोलन का जन्म प्रथम महायुद्ध-जनित विकृतियों और प्रतिकूलताओं के वातावरण में हुआ। मार्च १९१९ में मुसोलिनी ने फासिस्ट पार्टी की स्थापना की। शीघ्र ही इस प्रकार की संस्थाएँ इटली के अनेक शहरों में फैल गयीं। अक्टूबर १९२२ में इटली के राजा ने मुसोलिनी को प्रधान मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार फासिस्ट पार्टी के हाथ में राज्यसत्ता आ गयी। धीरे धीरे विरोधी पार्टियों को समाप्त कर दिया गया और केवल एक ही फासिस्ट पार्टी का तानाशाही प्रभुत्व स्थापित हो गया।

फासिस्ट विचारधारा के अनुसार इटली में पूँजीवादी संस्थाओं को मान्यता प्राप्त थी। प्रारम्भ में तो फासिस्ट सरकार की नीति निजी उद्योग धन्धों और पूँजीपतियों के हित में रही। सरकारी आदेश से श्रम-संघों को दबा दिया गया, मजदूरी कम कर दी गयी, हड़तालें समाप्त कर दी गयीं, उपभोक्ताओं और श्रमिकों की सहकारी संस्थाओं को निरुत्साहित किया

गया, अनेक सार्वजनिक स्तर पर सम्पादित उद्योग-धन्धों को निजी क्षेत्र में स्थापित किया गया तथा उद्योग-आयकर के स्थान पर बिक्री-कर लगाये गये। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक न रही। इटली को भी १९२९-३२ की आर्थिक मन्दी का शिकार होना पड़ा। इसके फलस्वरूप व्यापक रूप में राज्य द्वारा हस्तक्षेप और नियंत्रण होने लगा। सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार हुआ। काम करने के घंटों में कमी की गयी। तट-करों में वृद्धि की गयी। उत्पादन और व्यापार में कुछ अन्य नियंत्रण भी लगाये गये।

आर्थिक मन्दी के बाद ईथियोपिया के युद्ध तथा द्वितीय महायुद्ध के कारण इटली की अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप में नियंत्रित हो गयी। मूलाधार आर्थिक निर्णय करने की शक्ति सरकारी कर्मचारियों और संस्थाओं को प्राप्त हो गयी। अन्तिम रूप में यह शक्ति मुसोलिनी और उसकी पार्टी के मुट्ठी भर नेताओं के हाथों में केन्द्रित थी परन्तु व्यवहार में यह अनेक सरकारी संस्थाओं को प्राप्त थी। इनमें सब से ऊँची और महत्वपूर्ण संस्था “कारपोरेशन मन्त्रालय” थी। यह संस्था देश के लिए आर्थिक योजना बनाती थी और आर्थिक क्रियाओं के सर्वेक्षण और नियंत्रण का कार्य भी इसी के हाथों में था। और भी अनेक प्रकार की संस्थाओं की स्थापना की गयी, उदाहरण के लिए “कैटेगरी कारपोरेशन”, “कारपोरेशनों की नेशनल कौंसिल” और “केन्द्रीय कारपोरेट कमेटी” इत्यादि। इनका कार्य विविध उद्योग धन्धों की कार्य-विधि के अन्तर्गत नियम बनाना और अनेक प्रकार के नियंत्रणों की स्थापना तथा उनको कार्यान्वित करना था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इटली में फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था साधारण रूप में हस्तक्षेप से प्रारम्भ हो कर अन्ततोगत्वा व्यापक रूप में नियंत्रित हो गयी।

जर्मनी में फाजिज्म

प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी की आर्थिक दशा इटली से भी बदतर हो गयी थी। इन्हीं दिनों हिटलर जर्मनी की मजदूरपार्टी का सदस्य बना और १९२१ में उस पार्टी का “नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्क्स पार्टी”

नाम रखकर वह उसका नेता बन बैठा। इस पार्टी को आरम्भ में राजनीतिक सफलता नहीं मिली। परन्तु १९२९-३२ की विश्वव्यापी मन्दी की अवधि में जिसमें जर्मनी भी बुरी तरह ग्रस्त हो गया था, इस पार्टी की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। साम्यवाद से डरे हुए जर्मनी के उद्योगपतियों तथा जमींदारों ने इस पार्टी का साथ दिया। जनवरी १९३३ में जर्मनी के प्रेसीडेंट ने हिटलर को चान्सलर के पद पर प्रतिष्ठित किया। इससे पार्टी की सदस्यता में वृद्धि हुई। कुछ लोग इस पार्टी के सैनिक रूप से, और कुछ हिटलर की नेतागिरी से और पार्टी के प्रचारात्मक कार्य से प्रभावित हुए। राज्य-सत्ता प्राप्त करने के बाद नेशनल सोशलिस्ट पार्टी का प्रभाव बढ़ता ही गया और उसने तानाशाही रूप धारण कर लिया।

इस पार्टी को तुरन्त ही आर्थिक मन्दी की स्थिति का सामना करना पड़ा। अतएव इसने शीघ्रता से देश की आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। पहली मई १९३३ में प्रथम चतुर्वर्षीय योजना की घोषणा की गयी जिसका प्रधान उद्देश्य बेकारी दूर करना था। इसके मुख्य साधन सार्वजनिक निर्माण-कार्य, निजी निर्माण कार्य के लिए आर्थिक सहायता, औद्योगिक उपकरणों के नवीनीकरण के लिए करों में रियायत तथा बड़ी मात्रा में युद्धसामग्री बनाने के प्रोग्राम थे। १९३६ में जर्मनी में द्वितीय चतुर्वर्षीय योजना प्रारम्भ की गयी। इस बीच में बेकारी की समस्या हल हो चुकी थी। इस योजना का मुख्य ध्येय जर्मनी को युद्ध के लिए तैयार करना था। इसी निमित्त देश को खाद्यसामग्री और युद्ध सम्बन्धी कच्चे माल में पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा की गयी। इन चतुर्वर्षीय योजनाओं के कार्यकाल में जर्मनी के अर्थ-तन्त्र के अनेक भाग राज्य के नियंत्रण में लाये गये। सरकार का मूल्यों, पारिश्रमिकों, साख, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, पूंजी के विनियोग और कुछ अन्य कार्यों पर नियंत्रण हो गया।

प्रारम्भ में आर्थिक नियंत्रण के कार्य जर्मनी के अर्थ-मन्त्री और उसके सलाहकारों के अधीन थे जो कि पार्टी के नेतृत्व के सर्वेक्षण में रहते थे। बाद में द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाएँ जनरल गोरिंग

और उसकी सलाहकार समिति के अधीन कर दी गयीं। यद्यपि अन्तिम आर्थिक निर्णय करने की शक्ति हिटलर और उसके साथियों के हाथ में थी परन्तु व्यावहारिक रूप में एक संस्था “जनरल कौंसिल फ़ौर दि वार इकौ-नौमी” योजना-आयोग के सदृश कार्य करती थी। यह संस्था मुख्य रूप में आर्थिक साधनों के भिन्न भिन्न उद्योग-धन्धों में वितरण और तत्सम्बन्धी उपभोग और उत्पादक वस्तुओं के निर्माण पर नियंत्रण रखती थी। आर्थिक कार्यों का मन्त्री भी इसी कौंसिल की अधीनता में रखा गया। एक नया पद “आर्थिक जनरल कमिश्नर” का बनाया गया जिसके अन्तर्गत अर्थ-मन्त्री, श्रम-मन्त्री, वित्त-मन्त्री, खाद्य-मन्त्री तथा वन-मन्त्री काम करते थे। और भी अनेक छोटी बड़ी भिन्न भिन्न स्तरों पर नियंत्रण करने वाली संस्थाओं की स्थापना की गयी। इस प्रकार नियंत्रणाधिकारियों का जाल सा बिछ गया और उद्योग-धन्धों में स्वामियों को पग पग पर विविध प्रकार के आदेशों और नियंत्रणों का सामना करना पड़ना।

उद्योग-धन्धों का संघीकरण

इटली तथा जर्मनी दोनों देशों में उद्योग-धन्धों का संघीकरण होने लगा। अनेक छोटे छोटे उद्योग एक दूसरे में मिलकर बड़े पैमाने के बन गये। अनेक उद्योग धन्धे “कार्टेल” और संघों के रूप में परिणत हो गये। जो उद्योग-धन्धे बड़े उद्योगों में घुल-मिल नहीं सके वे बन्द हो गये। सरकार की नीति ही बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों की स्थापना की थी, इसलिए छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों को कच्चा माल तथा उपकरणों के नवीनीकरण के लिए धन उपलब्ध न हो पाता था। फलस्वरूप अपनी वस्तुओं को सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य पर बेचकर उनको हानि उठानी पड़ती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक अनुत्पादक तथा कम कार्यकुशल उत्पादन इकाइयाँ या तो बन्द हो गयीं अथवा बड़ी इकाइयों में मिल गयीं।

युद्ध-काल में दोनों देशों में उत्पादन-क्षेत्र में सरकार का नियंत्रण अधिक कठोर और प्रत्यक्ष रूप में होने लगा। अधिकांश कारखानों में युद्ध-

सम्बन्धी सामग्री के उत्पादन पर अत्यन्त बल दिया जाने लगा। उपभोग की वस्तुओं का निर्माण करनेवाले उद्योग धन्धे या तो बन्द रहते थे अथवा सप्ताह में कुछ ही घण्टे कार्य कर सकते थे। उनको बहुत कम मात्रा में कच्चा माल दिया जाता था। किसी भी वस्तु की थोड़ी सी ही निर्धारित किस्में बनायी जा सकती थीं। टूटा-फूटा माल, रद्दी, चिथड़े इकट्ठे कर उनका फिर से उपयोग किया जाने लगा। नकली कच्चे माल का भी अधिकाधिक मात्रा में प्रयोग होने लगा। उत्पादकों को अपने तैयार माल की सूची सरकार को देनी पड़ती थी और उसका एक बड़ा भाग सरकार के लिए सुरक्षित रखना पड़ता था। इन नियमों को भंग करनेवालों को कड़ी सजा दी जाती थी।

फासिस्ट पद्धति में आर्थिक स्थिरता

ऐसा समझा जाता था कि फासिस्ट व्यवस्था में अर्थ-तन्त्र के संचालन में पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक स्थिरता रहेगी। सैद्धान्तिक रूप में ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि इस व्यवस्था में पर्याप्त मात्रा में सरकारी नियंत्रण रहता है। परन्तु इटली और जर्मनी दोनों फासिस्ट देश विश्वव्यापी मन्दी से बचे नहीं रहे। यद्यपि उस समय तक जर्मनी में फासिस्ट प्रथा जोर नहीं पकड़ सकी थी, परन्तु इटली में तो कुछ वर्षों से यह कार्यान्वित थी। यह अवश्य है कि इन देशों में शीघ्रता से राज्य द्वारा आर्थिक स्तर उठाने का काम अपने हाथ में लिया गया और उसमें पर्याप्त मात्रा में सफलता भी प्राप्त हुई। इस सफलता का एक कारण यह था कि इन देशों में राज्य के आदेश पर युद्धसामग्री का निर्माण बड़ी मात्रा में किया जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध काल में तो बेरोजगारी का नामोनिशान तक नहीं रहा। परन्तु इस अवसर पर पूँजीवादी देशों में भी ऐसी ही परिस्थिति थी, क्योंकि उत्पादन का बहुत बड़ा भाग सार्वजनिक क्षेत्र में होने लगा था, अथवा सरकार के नियंत्रण में होता था। युद्ध के बाद शान्तिकाल में फासिस्ट देशों में आर्थिक स्थिरता कहीं तक उपलब्ध रहती यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दोनों देश युद्ध में

पराजित हो गये और उनके सामने दूसरी ही समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं । फेर भी यह सोचा जा सकता है कि फासिस्ट व्यवस्था में अस्थिरता अधिक समय तक न रहने पाती ।

फासिस्ट व्यवस्था में आय का वितरण

फासिस्ट देशों में पूँजीवादी देशों की तरह ही उद्योग-धन्धों तथा भूमि पर निजी स्वामित्व रहता है । अतएव वहाँ भी लगान, मजदूरी, वेतन, व्याज तथा लाभ के रूप में आय प्राप्त होती है । इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि आय के ये रूप पूँजीवादी पद्धति के अनुसार ही कार्यान्वित होते हैं । सैद्धान्तिक रूप में पूँजीवाद में इन आयों का परिमाण बाजार शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है । परन्तु फासिस्ट पद्धति में यह राज्य के नियंत्रण द्वारा निर्धारित होता है । इस पार्टी के नेता नियंत्रणों द्वारा आय के वितरण को भी प्रभावित करते थे । अतएव पूँजीवाद के आय के वितरण के सिद्धान्त फासिस्ट व्यवस्था में पूर्ण रूप में लागू नहीं होते थे ।

फासिस्ट देशों में पूँजीवादी देशों की अपेक्षा आय के वितरण में अधिक असमानता रहती है । इसका मुख्य कारण यह है कि यहाँ श्रमिकों की अपेक्षा उद्योगपतियों को अधिक अधिकार प्राप्त रहते हैं । उनको नियमों के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण करने का अधिकार भी रहता है जिसका प्रयोग वे अवश्यमेव अपने हित में करने की चेष्टा करेंगे । यद्यपि श्रमिकों के एक प्रकार के संघ होते हैं परन्तु उनको हड़ताल इत्यादि द्वारा अपने पारिश्रमिक को बढ़वाने का अधिकार नहीं रहता है । जर्मनी और इटली में फासिस्ट राज्य के अन्तर्गत कुल आय में श्रम द्वारा प्राप्त आय का प्रतिशत भाग कम होता गया । इससे प्रतीत होता है कि इन देशों में श्रमिकों की अपेक्षा पूँजीपतियों को अधिक मान प्राप्त था ।

फासिस्ट व्यवस्था में आर्थिक स्वतंत्रता

यद्यपि बाहरी तीर पर पूँजीवादी और फासिस्ट व्यवस्थाएँ अनेक

महत्वपूर्ण बातों में समान प्रतीत होती हैं परन्तु जहाँ तक आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न है, इसमें दोनों में बड़ा अन्तर है। फासिस्ट विचारधारा के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं है। आर्थिक मामलों में भी वह स्वतन्त्रता नाम मात्र की ही थी। उद्योगपतियों को यद्यपि कुछ स्वतन्त्रता थी परन्तु वे अनेक प्रकार के सरकारी नियंत्रणों में जकड़े रहते थे। सफलता प्राप्त करने के लिए फासिस्ट नेताओं की सस्तुति, खुशामद तथा घूसखोरी का सहारा लेना पड़ता था। उपभोक्ता की स्वतन्त्रता भी सीमित थी। मूल्यों पर नियंत्रण और राशनिंग प्रथा का प्रयोग होता था। उपभोग की वस्तुओं की अपेक्षा युद्धोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में साधनों का अधिक प्रयोग होता था। जर्मनी में तो विशेष रूप से यहूदियों की आर्थिक तथा अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता का हनन कर दिया गया था।

फासिस्ट व्यवस्था का मूल्यांकन

हम देख चुके हैं कि फासिस्ट अर्थ-पद्धति कुछ बातों में पूंजीवादी पद्धति से मिलती जुलती है और कुछ बातों में समाजवादी पद्धति से। कुछ बातों में यह दोनों से ही भिन्न होती है। पूंजीवादी पद्धति से यह भिन्नता साधनों के सम्बन्ध में नहीं परन्तु उद्देश्यों के सम्बन्ध में होती है। फासिस्टों के मतानुसार निजी सम्पत्ति, स्वतन्त्र उद्योग, प्रतिस्पर्धा, लाभ रूपी प्रेरणा तथा पूंजीवाद की कार्य-पद्धति उपयुक्त तो हैं परन्तु उनका उपयोग अपेक्षाकृत महत्वहीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। महत्वपूर्ण उद्देश्य तो राष्ट्र को शक्तिमान्, अग्रगामी और प्रभुतापूर्ण बनाना और उसको सम्मान तथा गौरव के पद पर प्रतिष्ठित करना है। यदि पूंजीवाद की सभी संस्थाओं और मान्यताओं को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय तो उनसे राष्ट्र के ये उद्देश्य सिद्ध न हो पायेंगे। अतएव फासिस्ट व्यवस्था में इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तथा युद्ध की तैयारी के लिए पूंजीवादी ढाँचे को बनाये रखते हुए भी अनेक प्रकार के नियंत्रणों का समावेश होने लगा।

इसी प्रकार यद्यपि फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था में समाजवादी अर्थव्यवस्था

की तरह कोई सांगोपांग आर्थिक योजना का निर्माण तो नहीं होता है तथापि फासिस्ट देशों की अर्थ-व्यवस्था आयोजित अवश्य ही रहती है। अन्तर यह है कि इस योजना को सार्वजनिक क्षेत्र में सरकारी उद्योग-धन्धों में कार्यान्वित नहीं किया जाता है। परन्तु नियंत्रणों द्वारा निजी क्षेत्र में ही अधिकांश रूप में इसका सम्पादन होता है। आर्थिक उपकरणों पर राज्य का स्वामित्व नहीं होता है और न राज्य द्वारा उद्योग-धन्धों का संपादन ही किया जाता है। परन्तु सरकारी हस्तक्षेप और अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न स्तरों पर नियंत्रण द्वारा पूंजीवादी संस्थाओं को फासिस्टवादी उद्देश्यों की पूर्ति के अनुकूल बना दिया जाता है।

फासिस्ट व्यवस्था की उपलब्धियाँ

फासिस्ट पद्धति की उपलब्धियों के सन्दर्भ में हमको उसके लक्ष्यों और उद्देश्यों को भी ध्यान में रखना चाहिए। जैसा हम लिख आये हैं, इसका प्रधान उद्देश्य इस प्रकार की समाजव्यवस्था का निर्माण करना था जिसमें राष्ट्र का अपना प्रभुतापूर्ण व्यक्तित्व बने, वह शक्तिशाली हो, उसको गौरव व सम्मान प्राप्त हो। सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त कार्यान्वित की जाय। यदि इस क्रिया में व्यक्तिगत हित न भी हों तो उनकी परवाह नहीं करनी चाहिए। आर्थिकपद्धति को इस प्रकार संचालित करने के लिए इसको सरकारी नियंत्रण में रखने की आवश्यकता होती है। अनेक प्रकार की संस्थाओं और नियमों की भी आवश्यकता पड़ती है। जर्मनी और इटली में इसी कार्यक्रम के अनुसार काम हुआ। इसमें सन्देह नहीं है कि यह व्यवस्था चल निकली। अतएव ऐसे लोगों का विचार जो समझते थे कि फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था व्यवहार में लायी ही नहीं जा सकती असत्य सिद्ध हुआ। अपने उद्देश्यों की पूर्ति में भी इन देशों को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। ये दोनों राष्ट्र, विशेषकर जर्मनी, तो बहुत शक्तिशाली और प्रभुता-सम्पन्न बन गया। जर्मनी की सैनिक तथा आक्रामक शक्ति से सारा संसार त्रस्त हो उठा। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में जर्मनी ने यूरोप के

अनेक देशों को पराजित करके अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। यद्यपि अन्त में वह स्वयं भी पराजित हो गया परन्तु यह कहना कठिन है कि यह पराजय उसकी फासिस्ट पद्धति के कारण हुई अथवा कुछ अन्य कारणों से।

जर्मनी तथा इटली अपनी अपनी अर्थ-पद्धतियों में पर्याप्त मात्रा में नियंत्रण का समावेश करने में भी सफल हुए। पूँजीवादी तत्वों को मान्यता देते हुए भी उनके द्वारा अपना उद्देश्य सिद्ध करवा लेना सरल काम नहीं है। क्योंकि यह नया नया प्रयोग था अतएव प्रारम्भ में इसमें कठिनाइयाँ तथा परेशानियाँ होनी ही थीं। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इन देशों को अपने प्रयोग के लिए पर्याप्त समय नहीं मिला। यद्यपि इटली में यह व्यवस्था अधिक काल तक रही परन्तु बीच में अनेक वर्ष आर्थिक मन्दी के निकल गये जिसका सामना करने के लिए उसकी अर्थ-व्यवस्था तैयार न हो पायी थी।

उत्पादन क्षेत्रों में बढ़ते हुए नियंत्रणों के फलस्वरूप फासिस्ट देशों में ऐसे अपव्ययों और बरबादियों में कमी हुई जो पूँजीवादी व्यवस्था में पाये जाते हैं। उत्पादन-उपकरणों में सापेक्ष अति वृद्धि तथा किसी भी वस्तु का विभिन्न प्रकार की आकृति, स्टाइल, रूप-रंग में उत्पादन और उनकी बिक्री बढ़ाने के लिए नाना प्रकार के प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन इत्यादि अपव्यय में रोक थाम हुई। समाजवादी व्यवस्था की तुलना में इस व्यवस्था में लाभ की प्रेरणा बनाये रखने के फलस्वरूप उत्पादकता में हानि नहीं होने पायी। इसी प्रकार, जैसा हम बतला आये हैं, जर्मनी तथा इटली में उत्पादन इकाइयों के पैमाने में वृद्धि करने के फलस्वरूप अनेक छोटी छोटी अनुत्पादक इकाइयाँ समाप्त कर दी गयीं और इन बड़ी इकाइयों को बड़ी मात्रा में उत्पादन सम्बन्धी अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं और उनकी उत्पादकता में भी वृद्धि हुई।

फासिस्ट देशों का एक आर्थिक उद्देश्य अपने को आत्मनिर्भर बनाना भी था। अतएव उनकी उत्पादन-नीति तथा विदेशी व्यापार-नीति इस लक्ष्य से भी प्रभावित हुई। यह लक्ष्य युद्धावधि में विदेशों पर निर्भर न रहने का

था। इसकी पूर्ति के लिए जिन वस्तुओं का उत्पादन इन देशों में पर्याप्त मात्रा में नहीं होता था उसमें वृद्धि करने की चेष्टा की गयी। इटली में गेहूँ का उत्पादन इसका उदाहरण है। इस आत्मनिर्भरता के कार्यक्रम में जो वस्तुएँ अपेक्षाकृत कम मात्रा में थीं उनके स्थान पर उन वस्तुओं का प्रयोग होने लगा जो अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध थीं। उदाहरण के लिए सूती वस्त्रों के स्थान पर रेयन, धातुओं के स्थान पर प्लास्टिक इत्यादि। इसी प्रकार अनेक प्राकृतिक वस्तुओं के स्थान पर बनावटी अथवा नकली वस्तुओं का भी प्रयोग होने लगा। इस कार्य में जर्मनी को विशेष रूप में सफलता मिली। कोलतार से मक्खन बनाना, लकड़ी तथा मक्खन निकाले गये दूध से वस्त्रों के लिए कच्चा माल तैयार करना, कोयले से गैसोलीन बनाना इत्यादि इसके कुछ उदाहरण हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि फासिस्ट देशों को आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने में पर्याप्त मात्रा में सफलता प्राप्त हुई।

यद्यपि फासिस्ट देशों में आय के वितरण में अत्यन्त असमानता पायी जाती है तथापि इस आय का एक बड़ा भाग सरकार ले लेती थी। अतएव आय की सापेक्ष विषमता में कुछ कमी आ जाती थी। इसके अतिरिक्त मूल्यों के नियंत्रण तथा राशनिंग द्वारा कम आय वालों के हितों की कुछ अंश में रक्षा हो जाती थी। सामाजिक सुरक्षा द्वारा भी वास्तविक आय की असमानता में कमी आती थी।

आर्थिक स्थिरता के सम्बन्ध में यही समझा जा सकता है कि अर्थ-तन्त्र को सरकारी नियंत्रण द्वारा आयोजित करनेवाली फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था मन्दी तथा बेकारी को रोकने में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक सफल होनी चाहिए। यद्यपि इटली में फासिस्ट व्यवस्था होने पर भी १९२९-३२ का आर्थिक संकट उतना ही गंभीर था जितना अन्य पूंजीवादी देशों में, परन्तु यह कहा जा सकता है कि तब तक इटली में यह व्यवस्था अपनी जड़ नहीं जमा सकी थी। जर्मनी में तो इस व्यवस्था का प्रारम्भ ही मन्दी के बाद हुआ।

फासिस्ट व्यवस्था की त्रुटियाँ

अनेक व्यक्तियों के मतानुसार फासिस्ट व्यवस्था के लक्ष्य तथा उद्देश्य ही वाञ्छनीय नहीं हैं। नागरिकों की वास्तविक आय और जीवन-स्तर को विशेष महत्व न देकर राष्ट्र की प्रतिष्ठा, गौरव, आत्म-निर्भरता तथा युद्धसामग्री के उत्पादन को अधिक महत्व देना उचित प्रतीत नहीं होता है। अतएव यद्यपि फासिस्टों के दृष्टिकोण से कोई भी नीति, नियंत्रण तथा आदेश और उत्पादन-व्यवस्था उनके निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उचित तथा पर्याप्त हो सकती हैं तथापि जिन लोगों को इन लक्ष्यों पर ही सन्देह है उनको इस प्रकार की नीतियाँ विकृति रूप में दृष्टिगोचर होती हैं।

इस व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का तो लोप ही हो जाता है। नाम के लिए निर्वाचन प्रणाली, विधान सभा, न्यायालय इत्यादि सभी संस्थाएँ होती हैं। परन्तु ये सभी फासिस्ट पार्टी के दबाव तथा प्रभाव में कार्य करती हैं। पार्टी तथा उसके शासन की रक्षा के लिए गुप्त पुलिस तथा विशेष न्यायालयों की स्थापना की जाती है। अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं रहती है और न समाचारपत्रों को ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। अनेक प्रकार के प्रचारात्मक कार्यों द्वारा जनता, विशेष कर युवकों में फासिस्टवाद के प्रति आदर तथा श्रद्धा उत्पन्न कराने का प्रयत्न किया जाता है। नियम भंग करनेवालों को कठोर दण्ड दिया जाता है।

आर्थिक स्वतन्त्रता

आर्थिक कार्यों में भी स्वतन्त्रता नाम मात्र की ही होती है। यद्यपि निजी सम्पत्ति और औद्योगिक स्वतन्त्रता को मान्यता प्राप्त रहती है परन्तु भिन्न भिन्न स्तरों पर इतने प्रकार के नियंत्रण होते हैं कि उत्पादक सरकारी आदेश के अनुसार ही कार्य करते जैसे लगते हैं। बहुधा नियंत्रण सम्बन्धी आदेश उल्लंघन तथा झुंझलाहट उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इन नियंत्रणों से

बचने के लिए अनेक उद्योगपति नियंत्रण-अधिकारियों की मुट्ठी गरम करके अपना उल्लू सीधा करने का प्रयत्न करते हैं जिसके फलस्वरूप घूस-खोरी और भ्रष्टाचार में वृद्धि होती है।

यद्यपि उपभोक्ताओं को उपभोग की वस्तुओं को खरीदने की स्वतन्त्रता रहती है परन्तु उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन उनकी माँग से अधिक प्रभावित नहीं होता है। इसका निर्णय नियंत्रणाधिकारी ही करते हैं कि किस वस्तु का कितनी मात्रा में उत्पादन हो। राशनिंग और मूल्यों में नियंत्रण की व्यवस्था से भी उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है।

श्रमिकों की स्वतन्त्रता भी सीमित रहती है। यद्यपि उनके संघ होते हैं परन्तु उन पर फासिस्ट पार्टी का प्रभुत्व रहता है। संघों को हड़ताल इत्यादि के अधिकार प्राप्त नहीं रहते, जिनके द्वारा वे अपने पारिश्रमिक में वृद्धि करवा सकें तथा अन्य सुविधाएँ उपलब्ध कर सकें। पारिश्रमिक की दर, काम करने के घण्टे तथा परिस्थितियाँ उद्योगपतियों द्वारा ही निर्धारित होती है। कभी कभी सरकार भी इन बातों में हस्तक्षेप करती है। जो कुछ भी औद्योगिक शान्ति इन देशों में पायी जाती थी वह श्रमिकों के ऊपर दबाव डालने से प्राप्त होती थी। श्रमिकों से कहा जाता था कि वे इस बात से सन्तोष प्राप्त करें कि वे राष्ट्र के एक महत्वपूर्ण अंग हैं जिसकी शक्ति में दिन प्रति दिन वृद्धि हो रही है। श्रमिकों का मुख्य प्रश्न रुपये पैसे का नहीं परन्तु उनके पद का सम्मान और गौरव समझा जाना चाहिए।

इन परिस्थितियों में यदि फासिस्ट व्यवस्था द्वारा उत्पादकता तथा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई भी, तो उसका सामाजिक मूल्य बड़ी मात्रा में चुकाया जाता था। अतएव फासिस्ट पद्धति के उत्पादन पर दोषारोपण नैतिकता के आधार पर किया जाता है, न कि उत्पादकता के आधार पर। इसके अतिरिक्त उत्पादन-क्षेत्र में जो कुछ भी वृद्धि होती थी उसका अधिकांश युद्धसामग्री तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने में लगा दिया जाता था, न कि नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा करने में।

आर्थिक शोषण

जर्मनी ने विशेष रूप में अपनी विदेशी व्यापार नीति तथा विदेशी विनिमय नियंत्रण द्वारा अनेक देशों के आर्थिक शोषण का प्रयत्न किया। आयात पर अनेक प्रकार की रोक, निर्यात को आर्थिक सहायता द्वारा प्रोत्साहन, विदेशी विनिमय की विभिन्न दरें, हिसाब चुकता करने का समझौता, विदेशी पावने में रुकावट इत्यादि अनेक उपायों द्वारा जर्मनी ने अपनी आर्थिक शक्ति बढ़ायी। परन्तु इसके फलस्वरूप दूसरे पक्ष को परेशानी उठानी पड़ती थी। जर्मनी की इस प्रकार की विदेशी व्यापार तथा विनिमय नीति के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुदेशीय के स्थान पर द्विदेशीय होने लगा। कुछ अंश में इसका रूप अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु-विनिमय का हो गया। इसकी प्रतिक्रिया अन्य देशों में भी हुई, जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लेन-देन में विक्षोभ उत्पन्न हो गया।

आर्थिक स्थिरता के सम्बन्ध में हम पहले ही लिख चुके हैं कि यद्यपि फासिस्ट व्यवस्था में नियंत्रण द्वारा अस्थिरता कम की जा सकती है परन्तु व्यवहार में फासिस्ट देशों में आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष की चक्रवर्त्त अवस्था पायी गयी है। जिस अंश में समाजवादी सांगोपांग आयोजित अर्थ-व्यवस्था इस समस्या का समाधान कर सकती है उस अंश तक फासिस्ट व्यवस्था नहीं कर सकती है।

जहाँ तक आय के वितरण का प्रश्न है, फासिस्ट व्यवस्था में भी आय के वही रूप हैं (मजदूरी, वेतन, लगान, ब्याज, लाभ) जो पूंजीवादी पद्धति में पाये जाते हैं और आय में भी उसी प्रकार की असमानता रहती है। फासिस्ट देशों में देखा गया कि राज्य की कुल आय का वह अनुपात जो पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता है उसमें उत्तरोत्तर हानि होती गयी और वह भाग जो ब्याज, लगान तथा लाभ के रूप में उपलब्ध होता है उसके अनुपात में वृद्धि हुई। इसका आशय यह हुआ कि आय की विषमता में वृद्धि ही हुई न कि कमी, जैसी कि कुछ लोगों की धारणा थी। व्यक्तिगत आय की असमानता में भी वृद्धि देखी गयी।

फासिस्ट अर्थ-व्यवस्था के मूल्यांकन में एक बात स्पष्ट है कि जिन उद्देश्यों को सम्मुख रखकर इसके नेताओं ने आर्थिक पद्धति को उसका रूप दिया है उन उद्देश्यों को प्राप्त करने में उनको पर्याप्त मात्रा में सफलता प्राप्त हुई। इटली और जर्मनी दोनों देशों की सैनिक शक्ति में आशातीत वृद्धि हुई। रक्षा और युद्ध सम्बन्धी सामग्री के उत्पादन में भी उनको सफलता प्राप्त हुई। बहुत अंश तक वे अपने देशों के अर्थ-तन्त्र को स्वावलम्बी बनाने में भी समर्थ हुए। फासिस्ट नेताओं ने इस बात का दावा कभी नहीं किया कि उनका उद्देश्य नागरिकों के उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना, उनकी वास्तविक आय में वृद्धि करना, अथवा जीवन स्तर को ऊँचा करना है। अतएव यदि उनके शासनकाल में इन वाञ्छनीय लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हुई तो यह पद्धति की कमजोरी नहीं मानी जा सकती है। हो सकता है कि इस पद्धति को कार्यान्वित करने में उत्पादकों, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं पर अनेक प्रकार के उचित और अनुचित दबाव डाले गये हों और अधिकारियों तथा राज्य-कर्मचारियों द्वारा नागरिकों को हैरान व परेशान किया गया हो। परन्तु यह सब फासिस्ट पद्धति को शक्तिशाली तथा सफल बनाने के निमित्त किया गया।

अध्याय १३

मिश्रित आर्थिक पद्धति

स्वरूप तथा रूपरेखा

“मिश्रित” शब्द से ही बोध होता है कि मिश्रित आर्थिक पद्धति का निर्माण अन्य पद्धतियों के सम्मिश्रण से होता है। इस पद्धति में पूँजीवादी तथा समाजवादी तत्वों का आंशिक रूप में सम्मिश्रण रहता है। साधारणतः ऐसा कहा जाता है कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में “व्यक्तिगत क्षेत्र” तथा “सार्वजनिक क्षेत्र” का सह-अस्तित्व रहता है, अर्थात् आर्थिक क्रियाएँ दोनों क्षेत्रों में सम्पादित होती हैं। यह परिभाषा मिश्रित आर्थिक पद्धति का स्वरूप तो बतलाती है परन्तु यह अपर्याप्त प्रतीत होती है। पूँजीवादी आर्थिक पद्धति की विवेचना करते हुए हमने बतलाया था कि यद्यपि इस पद्धति के अन्तर्गत व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता की प्रधानता रहती है तथापि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र भी रहता है जिसका संचालन राज्य-द्वारा होता है। इसी प्रकार समाजवादी आर्थिक पद्धति के सन्दर्भ में भी हमने बतलाया था कि यद्यपि इस पद्धति का निर्माण तथा उसका सम्पादन राज्य द्वारा आयोजित रहता है तथापि व्यवहार में इसके अन्तर्गत यत्र तत्र कुछ छोटे मोटे उद्योग-धन्धे व्यक्तिगत क्षेत्र में भी सम्पादित होते हैं।

पूँजीवादी आर्थिक पद्धति के विशुद्ध तथा आदर्श रूप में राज्य का अर्थ-व्यवस्था में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार एक आदर्श समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में निजी-क्षेत्र को कोई भी स्थान

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में निजी क्षेत्र कुछ अंश में पाये जाते हैं। अतएव एक प्रकार से कहा जा सकता है कि व्यावहारिक रूप में सभी आर्थिक पद्धतियाँ मिश्रित पद्धतियाँ हैं।

परन्तु ऐसा नहीं है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का पुट देने मात्र से ही अथवा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में कुछ निजी उद्योग धन्धों के अस्तित्व मात्र से ही “मिश्रित आर्थिक पद्धति” का निर्माण नहीं हो जाता है। मिश्रित आर्थिक पद्धति का अपना निजी विशिष्टत्व है और उसके अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं के सम्पादन की अपनी विधि है। संक्षेप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का स्थान गौण है। इसकी स्थापना और कार्यविधियाँ तथा राज्य-नीतियाँ पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को बल देने के लिए तथा निर्बाध गति से उसका संचालन कराने के निमित्त होती हैं। उदाहरण के लिए पूँजीवाद में व्यक्तिगत सम्पत्ति का बहुत महत्व है। इस संस्था तथा मान्यता की रक्षा के लिए राज्य को पुलिस तथा न्यायालयों की आवश्यकता पड़ती है। स्वतन्त्र उद्योग धन्धों की स्थापना तथा उनके विकास के लिए सड़कों, रेलों इत्यादि यातायात के साधनों की आवश्यकता पड़ती है जिनका निर्माण सार्वजनिक क्षेत्र में होता है क्योंकि इस प्रकार के उद्योग में बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगानी पड़ती है और पूँजी लगानेवाले को शोषता से पर्याप्त मौद्रिक लाभ नहीं मिल पाता है। इसी प्रकार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी कुछ छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों में निजी क्षेत्र इस लिए सह्य होता है कि जिससे मनुष्यों की स्वामित्व-भावनात्मक नैसर्गिक प्रवृत्ति का एकदम हनन न किया जाय, जिसके प्रतिक्रियास्वरूप समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना तथा उसके सम्पादन में अड़चन पड़ने की आशंका हो।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों का समान महत्व है। किसी का गौण स्थान नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक रूप में समझे जाते हैं यद्यपि व्यवहार में यदा कदा उन दोनों में संघर्ष तथा स्पर्धा पायी जाती है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के समर्थकों का कहना है कि इस

प्रकार के अर्थ-तन्त्र में दोनों क्षेत्रों के सह-अस्तित्व के लिए पर्याप्त स्थान तथा कार्य उपलब्ध हैं। इन दोनों क्षेत्रों के बीच कोई दीवाल अथवा खाई सदृश व्यवधान नहीं है। दोनों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।

सभी आर्थिक पद्धतियों के सदृश मिश्रित आर्थिक पद्धति का उद्देश्य भी आर्थिक समस्याओं का समाधान करना है। इस पद्धति के अन्तर्गत भी सीमित साधनों का असीमित आवश्यकताओं से सामञ्जस्य करना, आर्थिक साधनों को पूर्ण रूप से काम में लगाये रखना, अर्थ-तन्त्र में स्थिरता लाना, आय की असमानता में कमी करना तथा उत्तरोत्तर आर्थिक विकास के लक्ष्य प्राप्त करना है। पूँजीवादी तथा समाजवादी आर्थिक पद्धतियों के अन्तर्गत हम इस प्रकार की आर्थिक समस्याओं तथा उद्देश्यों का विवेचन पिछले अध्यायों में कर आये हैं। वहाँ हमने देखा कि यदि पूँजीवादी आर्थिक पद्धति कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल रही है तो कुछ अन्य वाञ्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने में उसको सफलता नहीं प्राप्त हुई है। इसी प्रकार समाजवादी आर्थिक पद्धति को यदि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की कुछ त्रुटियों को दूर करने में सफलता प्राप्त हुई है तो कुछ अन्य प्रकार के दोष उसमें भी पाये गये हैं। मिश्रित आर्थिक पद्धति के समर्थकों का कहना है कि इस पद्धति का निर्माण पूँजीवादी तथा समाजवादी दोनों प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं के गुणों को लेकर किया गया है, और ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि यह पद्धति उनके दोषों से मुक्त रहे। इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है अथवा हो सकती है इसका विवेचन हम अन्यत्र करेंगे।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का विकास

मिश्रित आर्थिक पद्धति का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में ही हुआ है। जैसा कि ऊपर लिख आये हैं, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में भी सार्वजनिक क्षेत्र का स्थान है यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र इस पद्धति के संचालन में विशेष मात्रा में हस्तक्षेप नहीं करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में

कुछ अर्थ-शास्त्रियों, समाजशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की विषमताओं तथा अस्थिरताओं को परिलक्षित कर सुझाव दिये कि आर्थिक क्रियाओं में राज्य का अधिक मात्रा में हस्तक्षेप और योगदान होना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र का कार्य पूँजीवादी पद्धति को बल प्रदान करना और उसके उद्देश्यों की पूर्ति न होकर एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना होना चाहिए। कल्याणकारी राज्य के उद्देश्य और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की उपलब्धियों में बहुधा वैषम्य रहता है। अतएव सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उन सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए जो कल्याणकारी राज्य में निहित हैं। सार्वजनिक क्षेत्र को अर्थ-तंत्र का परिशिष्ट नहीं अपितु वांछित दिशा में उसका प्रेरक बनना चाहिए।

१९२९-१९३२ की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र को देश की आर्थिक व्यवस्था में सक्रिय सहयोग प्रदान करने से अधिक बल मिला। इस सन्दर्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका सदृश पूँजीवादी देश की “न्यू डील” नाम से प्रसिद्ध आर्थिक नीति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस नीति द्वारा संयुक्त राज्य की सरकार ने विविध आर्थिक क्षेत्रों की सहायता और सहयोग से देश के अर्थ-तन्त्र को मन्दी के गर्त से निकालने का प्रयत्न किया। अन्य संकटग्रस्त पूँजीवादी देशों के राज्यों ने भी सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करके विविध प्रकार की राजस्व, मौद्रिक तथा आर्थिक नीतियों द्वारा अर्थ-तन्त्र को उत्थान और प्रगति की ओर ले जाने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार विकसित पूँजीवादी देशों में ही मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक “इंडिया मिक्स्ड इन्टरप्राइज एण्ड वेस्टर्न बिजिनेस” में लिखा है कि शनैः शनैः संयुक्त राज्य अमेरिका की अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की ओर अग्रसर होती गयी। अन्य विकसित पूँजीवादी देशों में भी मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को महत्व दिया जाने लगा। उदाहरण के लिए द्वितीय महायुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन की

मजदूर सरकार ने इस्पात, कोयला, गैस, बिजली सदृश महत्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया और कुछ अन्य उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की रूपरेखा प्रस्तुत की। परन्तु इन सभी देशों में सार्वजनिक क्षेत्र को छोटे साझेदार का ही स्थान प्राप्त हो सका।

मिश्रित आर्थिक पद्धति का विकास द्वितीय महायुद्ध के बाद उन अविकसित अथवा अल्पविकसित देशों में हुआ जो यथाशीघ्र आर्थिक प्रगति प्राप्त करने का प्रयास करने लगे थे। ऐसे ही देशों में हमारा भारतवर्ष भी है। भारतवर्ष ऐसा देश है जहाँ मिश्रित आर्थिक-पद्धति की सिद्धान्त रूप से अपनाया गया है और “पंचवर्षीय योजनाओं” में इसका स्पष्टीकरण भी किया गया है। हमारी अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र को प्रधान पद पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की जा रही है। भारतवर्ष की वर्तमान मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की विवेचना हम व्यौरे से अगले अध्याय में करेंगे। अनेक अल्पविकसित देश इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि करके आर्थिक प्रगति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न कर रहे हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व

अल्प विकसित देशों में सार्वजनिक क्षेत्र को इतना महत्व देने का मुख्य कारण यह विश्वास है कि बिना राज्य के सक्रिय सहयोग के इन देशों के अर्थ-तन्त्र को आर्थिक गर्त से निकाला नहीं जा सकता तथा शीघ्रता से आर्थिक प्रगति के मार्ग में अग्रसर होने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को प्रधानता देना अत्यावश्यक है। यद्यपि अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन फ्रान्स, जर्मनी इत्यादि देशों का आर्थिक विकास प्रधान रूप में निजी क्षेत्र द्वारा ही सम्पादित हुआ, परन्तु वर्तमान काल के पिछड़े हुए देश इतने पिछड़ गये हैं और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियाँ इस प्रकार की हो गयी हैं कि राज्य को बड़ा (कम से कम बराबर का) साझेदार बनाये बिना विकसित देशों के समकक्ष आना असम्भव सा प्रतीत होता है। अतएव आर्थिक साझेदारी में राज्य को बड़े साझेदार का स्थान देने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

मिश्रित आर्थिक पद्धति को अपना विशिष्टत्व प्राप्त करने के लिए

सार्वजनिक क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान रखना चाहिए। परन्तु यह बतलाना कठिन है कि सम्पूर्ण अर्थ-तन्त्र का कितना प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत हो जिससे इस पद्धति का नाम सार्थक हो। इस पद्धति की सार्थकता किसी विशेष प्रतिशत कार्यक्षेत्र के आधार पर नहीं समझी जानी चाहिए। मुख्य बात यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र कहाँ तक सारे अर्थतन्त्र को पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की ओर ले जाने में समर्थ हो सकता है और इस कार्य में वह कहाँ तक निजी क्षेत्र को प्रभावित कर सकता है। अर्थतन्त्र के ५० प्रतिशत अथवा उससे अधिक भाग पर प्रतिष्ठित न होने पर भी सार्वजनिक क्षेत्र इस प्रकार अपनी नीति चरितार्थ कर सकता है जिससे निजी क्षेत्र भी इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसी दिशा में अग्रसर हो। सार्वजनिक क्षेत्र एक बड़ी आर्थिक इकाई है अतएव उसको राज्य की विविध आर्थिक नीतियों की सहायता से निजी क्षेत्र को वाञ्छित दिशा में प्रेरित करने में विशेष कठिनाता नहीं होनी चाहिए।

आर्थिक साधनों का वितरण

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के समक्ष भी प्रधान समस्या सीमित साधनों को असीमित उद्देश्यों की पूर्ति के प्रति लगाना है। पूँजीवादी व्यवस्था में विविध साधनों द्वारा कौन कौन से उद्देश्यों की किस किस मात्रा में पूर्ति की जाय, इसका निर्णय अन्ततोगत्वा साधनों के मालिक ही करते हैं। इस निर्णय के कार्य में उनको बाजार तथा उसमें होनेवाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से सहायता मिलती है। मौद्रिक लाभ उनका प्रधान लक्ष्य रहता है। समाजवादी व्यवस्था में यह निर्णय योजनासमिति द्वारा किया जाता है। बाजार तन्त्र से इस कार्य में विशेष सहायता नहीं ली जाती है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में निजी क्षेत्र भी होता है और सार्वजनिक क्षेत्र भी। जहाँ तक निजी क्षेत्र का प्रश्न है, उसमें साधनों के विविध उद्योग धन्धों में वितरण का निर्णय उसी सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है जिसके अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में किया जाता है। इतना भेद अवश्य है कि

मिश्रित व्यवस्था में आर्थिक वातावरण पूंजीवादी वातावरण से भिन्न रहता है। इस भिन्नता का कारण सार्वजनिक क्षेत्र का परिणाम और राज्य की विविध आर्थिक नीतियाँ हैं जो कि सक्रिय रूप से वातावरण को प्रभावित करती रहती हैं। इस प्रकार के वातावरण में बाजार-तन्त्र का प्रभुत्व कुछ अंश में कम हो जाता है। निजी उद्योगपतियों को राजस्व तथा मौद्रिक नीतियाँ इस प्रकार के आर्थिक निर्णय करने के लिए बाध्य करती हैं जिनको वे साधारण परिस्थिति में न करते। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि निजी क्षेत्र में साधनपतियों को आर्थिक निर्णय करने में स्वतन्त्रता है परन्तु राज्य के विविध आर्थिक नियम और नीतियाँ इस स्वतन्त्रता को इस प्रकार का मोड़ देने की चेष्टा करती हैं जिससे राज्य द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हो। ऐसी बात नहीं है कि इस कार्य में राज्य को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई हो। इस विषय की आलोचना हम पन्द्रहवें अध्याय में करेंगे।

जहाँ तक सार्वजनिक क्षेत्र में आर्थिक साधनों के वितरण का प्रश्न है, इस का निर्णय राज्य तथा उसके विभागों द्वारा किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार का निर्णय सार्वजनिक क्षेत्र में “बजट-सिद्धान्त” पर आधारित होता है जब कि निजी क्षेत्र में यह “बाजार-सिद्धान्त” पर आधारित रहता है। सार्वजनिक क्षेत्र का बजट संसद द्वारा बनाया जाता है जिसके निर्माण में देश के प्रतिनिधि संसद-सदस्यों के रूप में भाग लेते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में भी उत्पादन के साधन उपलब्ध रहते हैं और राजस्व नीति द्वारा उनमें वृद्धि भी की जा सकती है। इन उत्पादन-साधनों को कौन सी आर्थिक क्रियाओं में लगाया जाय इसका निर्णय संसद द्वारा ही किया जाता है। इस निर्णय को करने में मौद्रिक लाभ की आशा अथवा बाजार की विविध वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग तथा पूर्ति की दशा को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। महत्व इस बात को दिया जाता है कि किस प्रकार जनता का अधिकतम हित हो सकता है।

अधिकतम हित का सिद्धान्त

यह अधिकतम हित का सिद्धान्त उपयुक्त तो प्रतीत होता है, परन्तु इसको व्यवहार में लाने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मुख्य कठिनाई “हित” के माप करने की है। मौद्रिक-लाभ मुद्रा की मात्रा में मापा तथा प्रकट किया जा सकता है। विविध आर्थिक क्रियाओं द्वारा प्राप्त मौद्रिक लाभों की तुलना की जा सकती है। परन्तु “हित” को मापने की ऐसी कोई इकाई नहीं है। उदाहरणार्थ हम कहते हैं कि अमुक उद्योग-पति को किसी उद्योग में एक हजार रुपया लाभ हुआ परन्तु हम यह नहीं कह सकते हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र के किसी आर्थिक कार्य द्वारा जनता का एक हजार इकाई हित हुआ। हित एक मानसिक व्यक्तिगत वेदना है जिसकी कोई साधारण माप नहीं है। विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्राप्त हित का योग नहीं किया जा सकता है। अतएव यह कहना बहुत कठिन है कि कौनसी सार्वजनिक आर्थिक क्रिया द्वारा जनसाधारण का अधिकतम हित होगा।

परन्तु हित की साधारण माप न होने पर भी कुछ विधियों द्वारा यह बतलाया जा सकता है कि अर्थ-तन्त्र सार्वजनिक हित की दिशा में अग्रसर हो रहा है अथवा नहीं, यद्यपि किस मात्रा में यह अग्रसर हो रहा है यह नहीं बतलाया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि अन्य सभी बातें समान रहने पर उत्पादन का विकास इस प्रकार हो रहा है कि सभी व्यक्तियों को पहिले से अधिक उपभोग की वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त हो रही हैं तो हम कह सकते हैं कि हित में वृद्धि हो रही है। क्योंकि हम इस बात को मानकर चलते हैं कि जब व्यक्तियों की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तभी उसको अधिकतम आर्थिक क्षेम, कल्याण अथवा हित की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार, अन्य सभी बातें पूर्ववत् रहने पर, यदि समाज के कुछ व्यक्तियों को पहले से अधिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त हो रही हों जबकि अन्य व्यक्तियों को प्राप्त वस्तुओं में तथा सेवाओं में कोई कमी नहीं हुई हो तो इस अवस्था में भी हम कह सकते हैं कि समाज के कुल हित में वृद्धि हुई

है। इसी प्रकार यद्यपि वस्तुओं तथा सेवाओं के परिमाण में कुछ वृद्धि न हुई हो परन्तु उनकी उत्कृष्टता में वृद्धि हो गयी हो तब भी हम कह सकते हैं कि आर्थिक हित में वृद्धि हुई है।

अस्तु, यह निर्विवाद है कि संसद द्वारा जो आर्थिक निर्णय लिये जायेंगे वे मौद्रिक-लाभ को अधिकतम करने की भावना से ही नहीं लिये जायेंगे। हमारा कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि सार्वजनिक क्षेत्र की किसी भी आर्थिक क्रिया में मौद्रिक-लाभ को ध्यान में नहीं रखा जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र में भी कुछ ऐसे उद्योग धन्धे होते हैं जिनका सम्पादन मौद्रिक-लाभ के आधार पर होता है। परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र की अधिकांश आर्थिक क्रियाओं का आधार मौद्रिक-लाभ नहीं होता है। यदि इन क्रियाओं द्वारा मौद्रिक-लाभ उपलब्ध हो भी गया हो तो यह एक गौण बात है। सार्वजनिक उद्योग-धन्धों को मौद्रिक-लाभ उपलब्ध करने का प्रयास करना चाहिए अथवा नहीं एक यह एक विवादात्मक विषय है।

सार्वजनिक क्षेत्र का आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करने के कारण

इस सन्दर्भ में यह जान लेना उचित होगा कि किन-किन कारणों से राज्य आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करता है। इन कारणों की समीक्षा से हमको ज्ञात हो जायगा कि मौद्रिक-लाभ की आशा अनेक कारणों में से एक कारण है।

राज्य का आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करने का एक मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार के अनेक उद्योग होते हैं जिनकी ओर निजी क्षेत्र आकृष्ट नहीं होता है क्योंकि इनमें अधिक मात्रा में पूँजी लगानी पड़ती है और उससे क्षीघ्रता से पर्याप्त मात्रा में लाभ मिलने की आशा नहीं होती। उदारणार्थ सड़कों और नहरों का तथा नदी, घाटियों का निर्माण। देश के आर्थिक विकास तथा प्रगति के लिए इनका अत्यन्त महत्व है। अतएव इस प्रकार के आर्थिक कार्यों में राज्य को पूँजी लगानी पड़ती है। इस प्रकार के बुनियादी उद्योग-धन्धों का विस्तार अविकसित देशों के लिए अत्यन्त आवश्यक

है। आधुनिक विकसित देशों में भी इस प्रकार के उद्योग-धन्धों का विकास सार्वजनिक क्षेत्र में हुआ है अथवा उनको राज्य से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे उद्योग धन्धे हैं जो सार्वजनिक उपयोगिता से सम्बन्धित हैं जैसे पानी, रोशनी, यातायात सम्बन्धी उद्योग-धन्धे। यदि इन उद्योग-धन्धों को निर्वाध रूप में रहने दिया जाय तो इनमें एकाधिकारी तत्वों के समावेश की आशंका रहती है जिसके परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को इन आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं के लिए बड़ी मात्रा में मूल्य देना पड़ता है। अतएव इस प्रकार की सार्वजनिक हित की सेवाएँ सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उचित मूल्य पर उपलब्ध की जाती है अथवा इनके मूल्यों पर राज्य द्वारा नियंत्रण रहता है।

कुछ उद्योग-धन्धे राज्य की सुरक्षा से सम्बन्धित होते हैं, उदाहरणार्थ युद्ध-सामग्री बनाने के उद्योग-धन्धे। स्पष्ट है कि गोपनीयता तथा उपयुक्त मात्रा में उपलब्धता के निमित्त इनका उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में ही होता है।

इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ उद्योग-धन्धे निजी क्षेत्र के लिये उदाहरण का कार्य भी करते हैं। हमारे देश में स्थान-स्थान पर सरकारी कृषि-क्षेत्र स्थापित किये गये हैं जो किसानों के समक्ष एक नमूने के रूप में यह प्रदर्शन करते हैं कि किन उपायों द्वारा कृषि-उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है और उसका स्तर ऊँचा किया जा सकता है।

शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी राज्य का बड़ा भाग है। यह देखा गया है कि पूँजीवादी पद्धति में भौतिक पूँजी और उनकी उत्पादकता को तो पर्याप्त महत्व दिया जाता है परन्तु जनता की कार्यक्षमता की वृद्धि को उतना महत्व नहीं दिया जाता है। शिक्षा और स्वास्थ्य ऐसे विषय हैं जिनके द्वारा मानविक पूँजी की उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है। अतएव ये विषय भी साधारणतया सार्वजनिक क्षेत्र में पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त वर्तमान काल की सामाजिक तथा आर्थिक विचार-

द्वारा समाजवाद की ओर झुकती जा रही है। ऐसे वातावरण में राज्य का आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करना अवश्यभावी हो जाता है।

मूल्य-नीति

उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त मौद्रिक-आय के लिए भी राज्य का कुछ उद्योगों पर स्वामित्व रहता है। कुछ देशों में नमक, तम्बाकू, दियासलाई सदृश वस्तुओं का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में होता है। इन उद्योगों पर राज्य का एकाधिकार रहता है और राज्य इस शक्ति का प्रयोग अपनी मौद्रिक-आय को अधिकतम करने के निमित्त करते हैं।

किसी भी राजकीय उद्योग-धन्धे के सम्पादन में लाभ होगा अथवा नहीं यह मुख्य रूप में मूल्य-नीति पर निर्भर करता है। तीन प्रकार की मूल्य-नीतियाँ हो सकती हैं। एक नीति के अनुसार सरकारी उद्योग-धन्धों द्वारा उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य इस प्रकार निर्धारित करना चाहिए जिससे केवल कुल उत्पादन-व्यय वसूल हो जाय। इसको “न लाभ न हानि” का सिद्धान्त कहते हैं। दूसरे प्रकार की मूल्य-नीति के अनुसार इन वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य प्रति इकाई लागत-व्यय से कम रखा जाता है। कभी-कभी कुछ उपभोक्ताओं को यह निःशुल्क भी उपलब्ध की जाती है। उदाहरणार्थ राज्य द्वारा निर्मित मकानों को बहुत कम किराये पर मजदूरों को उपलब्ध करना, सरकारी विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा देना, सरकारी चिकित्सालयों में निःशुल्क चिकित्सा तथा औषधि उपलब्ध करना आदि। यदि सरकार चाहती है कि कुछ वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग में वृद्धि हो तो वह इस इच्छा की पूर्ति ऐसी वस्तुओं और सेवाओं को लागत-व्यय से कम मूल्य में उपलब्ध करा सकती है अथवा निःशुल्क प्रदान कर सकती है। इस मूल्य-नीति के सम्पादन में सरकार को जो आर्थिक हानि होती है उसकी पूर्ति सार्वजनिक आय द्वारा की जाती है।

तीसरे प्रकार की मूल्य-नीति वह है जिसके अन्तर्गत कुल उत्पादन व्यय वसूल होने के बाद विशुद्ध आय भी होती है। उदाहरण के लिए हमारे

देश में रेल के भाड़े की नीति द्वारा केन्द्रीय सरकार को काफ़ी आमदनी होती है। इस प्रकार के मूल्य की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इन लाभ-उपलब्ध करानेवाले उद्योगों पर किस अंश तक राज्य का एकाधिकार है और उन वस्तुओं अथवा सेवाओं की माँग में कितनी लोच है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि इसके अन्तर्गत कुछ उद्योग-धन्धों को लाभ दिखाना चाहिए और राज्य की आय में वृद्धि करनी चाहिए। इसका एक कारण यह है कि यदि ये उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में न होकर निजी क्षेत्र में होते तो उनसे करों द्वारा राज्य को कुछ न कुछ आय अवश्य ही होती। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में राज्य के व्यय बढ़ते जा रहे हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि सरकारी उद्योग धन्धे इस बढ़ते हुए व्यय की पूर्ति के लिए कुछ अंश में योगदान दें। यह ठीक है कि सभी प्रकार के सार्वजनिक क्षेत्र में सम्पादित उद्योग-धन्धों से इस प्रकार की आशा नहीं की जा सकती है।

अब हम अपने प्रारम्भिक प्रश्न मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक साधनों के वितरण पर वापिस आते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र में नियोजित साधनों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। इस क्षेत्र में साधनों का भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धों में वितरण राज्य की योजना द्वारा होता है। इस योजना के निर्माण में जनसाधारण के हितों को दृष्टि में रखा जाता है। मूल्य लागत, मार्केट इत्यादि तत्वों को ध्यान में तो रखना पड़ता है परन्तु सभी आर्थिक निर्णय इनसे प्रभावित नहीं होते हैं। निजी क्षेत्र में इन तत्वों का अधिक महत्व है। अतएव जहाँ तक निजी उद्योग-धन्धों में साधनों के वितरण का प्रश्न है वहाँ इनका आधार अवश्य लिया जाता है। परन्तु एक बात ध्यान में रखने की है कि राज्य की आर्थिक मौद्रिक तथा राजस्व, नीतियाँ इन तत्वों को भी प्रभावित करती रहती हैं, और अप्रत्यक्ष रूप में निजी उद्योग-धन्धों के निर्णयों को भी प्रभावित करती हैं।

आर्थिक चक्र

आर्थिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष मिश्रित-पद्धति में भी पाये जाते हैं और भविष्य में भी पाये जायेंगे। इनकी विभीषिका इस बात पर निर्भर करेगी कि अर्थ-तन्त्र में निजी क्षेत्र की प्रधानता है अथवा सार्वजनिक क्षेत्र की। जैसे जैसे सार्वजनिक क्षेत्र को प्रधानता मिलती जायेगी वैसे वैसे आर्थिक व्यवस्था में अस्थिरता कम होती जायेगी। सार्वजनिक क्षेत्र से यह आशा की जाती है कि वह अर्थ-तन्त्र की विषमताओं को कम करने में अपना योगदान देगा। उदाहरणार्थ आर्थिक मन्दी के अवसर पर निजी क्षेत्र में पूँजी के विनियोग में कमी आ जाती है। परिणामस्वरूप उत्पादन में कमी तथा बेरोजगारी में वृद्धि हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करके अथवा निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता देकर तथा करों में कमी करके अर्थ-तन्त्र को गर्त में गिरने से बचाया जा सकता है अथवा गर्त से निकाला जा सकता है। गत विश्वव्यापी मन्दी के बाद इस प्रकार की नीति का प्रयोग किया जाने लगा है। परिणामस्वरूप ज्योंही मन्दी के कुछ लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं तुरन्त राज्य पूर्वोक्त उपायों द्वारा मन्दी को बढ़ने से रोक देता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से अब तक इस प्रकार का आर्थिक संकट बड़े परिमाण में किसी भी देश में नहीं आया है।

सार्वजनिक क्षेत्र और राजस्व-नीति किस सीमा तक आर्थिक मन्दी की रोकथाम कर सकेगी यह केवल सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार पर ही निर्भर नहीं करता है। इसके अतिरिक्त इस बात को भी ध्यान में रखा जाता है कि कितनी शीघ्रता से राज्य को मन्दी के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ये विविध प्रकार के आर्थिक आँकड़ों द्वारा ही ज्ञात किये जा सकते हैं। लक्षणों के दृष्टिगोचर होने पर भी इस बात की आवश्यकता रहती है कि यथाशीघ्र पर्याप्त मात्रा में सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि की जाय और निजी क्षेत्र को विविध प्रकार की आर्थिक, राजस्व और मौद्रिक नीतियों द्वारा आशा-

निवृत्त किया जाय। जितनी शीघ्रता से यह कार्य किये जायेंगे उतने ही वे प्रभावोत्पादक भी होंगे। यदि इस कार्य में ढील-ढाल हो गयी अथवा उपयुक्त मात्रा में सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि न हुई तो बाद में यह आर्थिक रोग गम्भीर हो जायगा और इसके उपचार के लिए पूर्वोक्त औषधियों के अतिरिक्त शल्य-क्रिया की भी आवश्यकता हो जायेगी।

आर्थिक प्रगति

मिश्रित-आर्थिक-पद्धति द्वारा आर्थिक प्रगति में बहुत आशा की जाती है। विशेषतया अविकसित अथवा अल्पविकसित देशों में तो यही उत्तम अर्थ-व्यवस्था समझी जाने लगी है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि अनेक कारणों से इन देशों को वर्तमान राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण में बिना राज्य के सक्रिय सहयोग के शीघ्रता से प्रगति करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। प्रगति को अग्रसर करने और उसकी गति को बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार की राज्य से सहायता तथा सहयोग की आवश्यकता होती है।

अविकसित देशों में एक बड़ी कमी पूँजी की है। इन देशों में राष्ट्रीय तथा प्रति-व्यक्ति आय इतनी कम है कि वह लगभग पूरी उपभोग में ही लग जाती है। आय का बहुत ही छोटा भाग (५ या ६ प्रतिशत) बचाया जाता है और पूँजी के रूप में परिणित किया जाता है। परन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए ये बहुत अपर्याप्त है। विकसित देशों में राष्ट्रीय आय का २० प्रतिशत तक बचाया जाता है और पूँजी निर्माण के कार्य में लगायी जाती है। अविकसित देशों का दुर्भाग्य है कि निर्धनता के कारण पर्याप्त मात्रा में बचत तथा पूँजी नहीं बन पाती है और अपर्याप्त पूँजी के कारण आर्थिक प्रगति न हो सकने के फलस्वरूप निर्धनता बनी रहती है।

इस परिस्थिति में राज्य ही एक ऐसी संस्था है जो देश को इस प्रकार के आर्थिक गर्त से उभार सकती है। जहाँ तक पूँजी का प्रश्न

है, उसका संचय सार्वजनिक क्षेत्र में भी हो सकता है। राज्य को करों द्वारा जो आय होती है उसका एक भाग पूँजी-निर्माण के कार्य में लगाया जा सकता है। यह ठीक है कि अविकसित देशों में कर देने की क्षमता भी कम होती है। फिर भी अधिकांश अविकसित देशों में अनेक कारणों से राष्ट्रीय आय का बहुत ही अल्पभाग (६-७ प्रतिशत) करके रूप में राज्य को प्राप्त होता है। कर-व्यवस्था में सुधार करके इसमें वृद्धि की आवश्यकता है। अविकसित देशों में आय का कुछ भाग दिखावटी उपभोग, अनुत्पादक पूँजी तथा सट्टे के काम में लगाया जाता है। इस आय को सरकार अपनी कर तथा ऋण नीति द्वारा एकत्रित कर उसको उत्पादक पूँजी में परिणित कर सकती है। घाटे के बजट द्वारा भी कुछ अंश में पूँजी का निर्माण हो सकता है। यद्यपि घाटे के बजट के प्रयोग से मूल्य स्तर में वृद्धि होने के फलस्वरूप उपभोक्ताओं को (साधनों की) बचत करने के लिए बाध्य होना पड़ता है और अर्थ-तन्त्र में मुद्रा-स्फीतिजनित परिस्थिति का प्रादुर्भाव हो जाता है तथापि सीमित मात्रा में घाटे के बजट नीति के साथ-साथ मौद्रिक तथा राजस्व-नीति द्वारा मुद्रा-स्फीति के अवांछनीय प्रतिफलों को रोकते हुए पूँजी के निर्माण में प्रगति लायी जा सकती है।

अविकसित देशों में दूसरी भारी कमी इस बात की है कि वहाँ बुनियादी उद्योग-धन्धे जिनके आधार पर आर्थिक भवन का निर्माण होता है बहुत पिछड़ी अवस्था में हैं और बहुत अपर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। यातायात के साधन, विद्युत-शक्ति, नहर, रासायनिक पदार्थ, खनिज पदार्थ, इस्पात आदि उद्योग आर्थिक विकास तथा प्रगति के लिए अत्यावश्यक हैं। इनके निर्माण और विकास में बहुत पूँजी लगती है। क्योंकि इनसे सभी उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है अतएव इनकी स्थापना और विकास का कार्य निजी क्षेत्र की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार के बुनियादी उद्योग-धन्धों के पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने पर अन्य उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है। इससे उनको एक प्रकार की बचत होती है जिसको “बाहरी बचत” कहते हैं। अतएव राज्य का यह

कर्तव्य हो जाता है कि इस प्रकार के उद्योग धन्धों के निर्माण और विस्तार का कार्य सार्वजनिक क्षेत्र में करे ।

अधिकांश अविकसित देशों में कृषि प्रधान उद्योग हैं और वह भी बहुत ही नावस्था में हैं । प्रति एकड़ तथा प्रति व्यक्ति उत्पादन विकसित देशों की अपेक्षा बहुत कम मात्रा में होता है । उत्पादन में वृद्धि के लिए राज्य सिंचाई के साधन अच्छी खाद, बीज, पशु आदि उपलब्ध कर सकते हैं । अनुसंधान कार्यों द्वारा खेती के उत्तम तरीके भी काश्तकारों को बतलाये जा सकते हैं । इस प्रकार राज्य की सहायता से कृषि में पर्याप्त मात्रा में प्रगति की जा सकती है ।

देश के औद्योगीकरण में भी राज्य द्वारा सहायता मिल सकती है । शक्ति के साधन, धातु व मशीनों के कारखाने, यातायात के साधन, तकनीकी ज्ञान इत्यादि की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि तथा राज्य की मौद्रिक और राजस्व नीति निजी क्षेत्र में औद्योगीकरण को उत्साहित कर सकती है । सार्वजनिक क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों की स्थापना हो सकती है । औद्योगीकरण की प्रगति में विज्ञान तकनीकी ज्ञान, नवीनीकरण तथा मशीनीकरण का विशेष महत्व है । यह कार्य बिना राज्य की सहायता तथा सहयोग के सम्पन्न नहीं हो सकता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी राज्य की सहायता की आवश्यकता होती है । अविकसित देशों को विदेशों से अनेक प्रकार की उत्पादन सामग्री का आयात करना पड़ता है । इसके भुगतान के लिए निर्यात में वृद्धि करना, विदेशी विनिमय उपलब्ध करवाना, विदेशी सरकारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से सहायता तथा ऋण उपलब्ध करवाना, इस प्रकार के कार्यों के विधिवत् सम्पादन के लिए भी राज्य पर निर्भर रहना पड़ता है ।

इसके अतिरिक्त आर्थिक प्रगति के लिए विविध प्रकार के बैंकों की स्थापना, मुद्रा-मार्केट तथा पूंजी-मार्केट का विस्तार आदि कार्य भी बहुत महत्व के हैं । इस सम्बन्ध में भी राज्य की सहायता तथा उसके सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता रहती है ।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि वर्तमान काल की आर्थिक परिस्थितियों में अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास और प्रगति में वेग लाने के लिए तथा विभिन्न उद्योग-धन्वों का सन्तुलित रूप में विकास करने के लिए एक व्यापक सार्वजनिक क्षेत्र के अतिरिक्त अनेक प्रकार से राज्य द्वारा हस्तक्षेप तथा सक्रिय सहयोग की आवश्यकता होती है।

विकसित देशों में आर्थिक प्रगति

यद्यपि वर्तमान काल में जो विकसित देश हैं उनके आर्थिक विकास में राज्य का अधिक मात्रा में सहयोग नहीं रहा है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रगति बनाये रखने के लिए राज्य की सहायता तथा सहयोग की आवश्यकता होती है। जैसे जैसे कोई देश धनी तथा सम्पन्न होता जाता है उसमें बचत तथा पूँजीकरण में बढ़ती हुई दर से वृद्धि होती है। उपभोग में वृद्धि तो होती है परन्तु घटती हुई दर से होती है। निजी क्षेत्र में पूँजी का विनियोग उपभोग की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि उपभोग की वस्तुओं की माँग में वृद्धि बचत की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा कम होती है तो पूँजी के विनियोग के कार्य में रुकावट आ जाती है। जिसके फलस्वरूप आर्थिक स्तर में गिरावट आने की सम्भावना हो जाती है। इस गिरावट को रोकने के लिए राज्य के हस्तक्षेप तथा सहयोग की आवश्यकता होती है। राज्य द्वारा अनेक प्रकार की सार्वजनिक उपभोग की वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध की जाती हैं जो कि अभी तक प्रचुरता के साथ विकसित देशों में भी जन साधारण को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं हैं। अतएव राज्य उस बचत को निजी क्षेत्र में नहीं लगा पा रहा है सार्वजनिक क्षेत्र में लगा सकता है। राज्य अपनी राजस्व नीति द्वारा भी निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित कर सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार बढ़ते हुए आर्थिक उपकरणों को पूर्ण रूप से काम में लगाये रखने के लिए एक विशेष मात्रा में आर्थिक प्रगति की आवश्यकता होती है जिसको प्राप्त करने के लिए राज्य का सक्रिय सहयोग आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विकसित

देशों के विकास और प्रगति की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए भी सार्वजनिक-क्षेत्र और राज्य की उपयुक्त आर्थिक नीतियाँ अनिवार्य हैं।

आय तथा सम्पत्ति का वितरण

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था के समान आय के स्रोत मजदूरी, वेतन, लगान, ब्याज और लाभ होते हैं। निजी सम्पत्ति, उत्तराधिकार, निजी क्षेत्र में उद्योग-स्वतन्त्रता आदि भी रहते हैं, जिनके फलस्वरूप आय में विषमता हो जाती है। परन्तु विस्तृत सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा और राज्य के आर्थिक तथा राजस्व नीतियों द्वारा इस विषमता को पर्याप्त मात्रा में कम किया जा सकता है। जहाँ तक मजदूरी का प्रश्न है सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से उसमें मजदूरों की संख्या में वृद्धि होती रहती है। यह आशा की जाती है कि निजी क्षेत्र की भाँति सार्वजनिक क्षेत्र में मजदूरों के शोषण की प्रवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् मजदूरों को उपयुक्त मजदूरी दी जाती है। इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव निजी क्षेत्र में उपलब्ध मजदूरी पर भी पड़ता है। इसके अतिरिक्त अनेक देशों में अब राज्य द्वारा “न्यूनतम मजदूरी” भी निर्धारित कर दी गयी है। साथ ही साथ विविध प्रकार के श्रम-नियमों के द्वारा मजदूरों की आर्थिक अवस्था में सुधार करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

अनेक राज्यों ने आधुनिक काल में पूर्ण-रोजगार की नीति को अपना लिया है। अतएव बेरोजगार मजदूरों को काम में लगा कर भी आय की असमानता कम की जाती है। इसके अतिरिक्त शिक्षा तथा ट्रेनिंग का प्रबन्ध करके भी राज्य सभी व्यक्तियों को आय प्राप्त करने का समान अवसर भी प्रदान करने का प्रयत्न करता है। सार्वजनिक चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सेवाओं के द्वारा भी मजदूरों की कार्यक्षमता में वृद्धि करके उनकी आय को बढ़ाया जाता है।

ऐसी वस्तुओं और सेवाओं को जो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हैं सार्वजनिक क्षेत्र में निर्माण कर मजदूरों तथा निर्धनों को कम मूल्य पर उपलब्ध कराकर भी इनकी वास्तविक आय में वृद्धि की जा सकती है।

इस प्रकार की वस्तुओं के मूल्य को कम रखने के लिए निजी उद्योग-धन्धों को भी राज्य द्वारा आर्थिक सहायता दी जा सकती है।

आय की विषमता को कम करने के लिए राज्य की वर्द्धमान क्रूर-नीति भी है जिसके अनुसार धनी लोगों से बढ़ती हुई दर से कर लिया जाता है। आय कर, सम्पत्ति कर, उत्तराधिकार कर इसके कुछ उदाहरण हैं। गरीब लोगों पर यह कर नहीं लगाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उपभोग और विलासिता की वस्तुओं पर अधिक कर लगाया जाता है और जीवन-निर्वाह की सामग्रियों को इससे बहुधा छूट रहती है।

इस प्रकार धनी व्यक्तियों की आय करों द्वारा कम करके और करों द्वारा प्राप्त आय को निर्धन व्यक्तियों के हित के कामों में लगा कर आय के वितरण की असमानता में कमी लायी जाती है। निर्धन व्यक्तियों के हित के कार्यों में एक महत्वपूर्ण कार्य सामाजिक सुरक्षा का कार्य भी है। इसके अन्तर्गत बेरोजगारी, बीमारी, विकलांगता, बुढ़ापा, वैध्यव्य तथा अनाथावस्था सदृश आपत्ति काल में विपदग्रस्तों को आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध रहता है। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थितियों में व्यक्तियों की आय बहुत कम हो जाती है अथवा बिल्कुल ही नहीं रहती है जिससे आय की असमानता में वृद्धि हो जाती है। ऐसे अवसरों पर आर्थिक सहायता मिलने से आय की असमानता में कुछ कमी आ जाती है। कुछ देशों में सभी व्यक्तियों के लिए एक न्यूनतम आय का भी प्रबन्ध है। इस प्रकार की सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं से अधिकाँश रूप में निर्धनों का हित होता है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का एक उद्देश्य आय की असमानता को कम करना भी रहता है। अतएव इस पद्धति में सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को महत्व देना अनिवार्य है।

आर्थिक स्वतन्त्रता

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक स्वतन्त्रता पूंजीवादी पद्धति की अपेक्षा कम रहती है। निजी क्षेत्र में उत्पादकों को अपने साधनों को

व्यवहार में लाने की स्वतन्त्रता तो रहती है परन्तु राज्य की आर्थिक, मौद्रिक तथा राजस्व नीतियों द्वारा कुछ अंश में अप्रत्यक्ष रूप में इस स्वतन्त्रता का नियमन हो जाता है। किसी-किसी उद्योग में मूल्यों पर भी नियंत्रण रहता है। सार्वजनिक क्षेत्र में साधनों का व्यवहार प्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ताओं की सार्वभौमिकता के नियम द्वारा नहीं होता है। इसका निर्णय संसद द्वारा किया जाता है जिसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं और उनका प्रतिनिधित्व करते हैं।

जहाँ तक उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता का प्रश्न है उनको अपनी आय किसी भी वस्तु अथवा सेवा में व्यय करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। कुछ अंश में इस स्वतन्त्रता का भी नियमन किया जाता है उदाहरणार्थ, कोटा, विदेशी-विनिमय, तथा आयात करों के प्रयोग से राज्य आयात की वस्तुओं पर नियंत्रण करके उपभोक्ताओं को उन वस्तुओं के उपभोग से कुछ अंश में वंचित कर सकता है। इसी प्रकार करों द्वारा कर-दाताओं की आय घटा कर और करों से प्राप्त आय द्वारा सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं तथा सेवाओं को उपलब्ध कराकर भी उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता का नियमन किया जाता है। इस नियमन का आशय यह नहीं है कि इससे उपभोक्ताओं की हानि होती है। सभी उपभोक्ता अपना हित-अनहित पूर्ण रूप से नहीं समझ पाते हैं। ऐसी आशा की जाती है कि उपभोक्ताओं के उपभोग का आंशिक नियमन करके राज्य उनके सामूहिक हित का ही कार्य करता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था जनतन्त्रात्मक पद्धति के अन्तर्गत सम्पादित की जाती है अथवा सम्पादित की जा सकती है। अतएव इसमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष की मिश्रित-अर्थ-व्यवस्था में वयस्क व्यक्तियों को संसद तथा विधान सभाओं के सदस्यों के निर्वाचन में मत देने का अधिकार प्राप्त है। अतएव इन संस्थाओं द्वारा जो आर्थिक निर्णय लिये जाते हैं वह अप्रत्यक्ष रूप में जनता द्वारा ही लिये गये समझे जाते हैं।

इस अध्याय में हमने मिश्रित आर्थिक-पद्धति की रूपरेखा तथा

उसकी कार्य-विधि पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। यह पद्धति समाववादी पद्धति की अपेक्षा पूंजीवादी आर्थिक पद्धति से अधिक मिलती जुलती है यद्यपि इसका सार्वजनिक क्षेत्र समाजवाद के आर्थिक-नियोजन के समकक्ष होता है। कुछ अर्थ-शास्त्रियों ने मिश्रित आर्थिक पद्धति को “नियोजित पूंजीवाद” की संज्ञा दी है।

अध्याय १४

भारतवर्ष में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था

भारतवर्ष का उदाहरण

मिश्रित आर्थिक पद्धति का उदाहरण देने के लिए हमने वर्तमान भारतवर्ष की अर्थ-व्यवस्था को चुना है। वैसे तो अनेक देशों में किसी न किसी स्तर पर मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पायी जाती है, परन्तु भारतवर्ष ही एक ऐसा बड़ा देश है जहाँ राज्य द्वारा मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की घोषणा कर दी गयी है, उसके उद्देश्यों और लक्ष्यों को भी निर्धारित कर दिया गया है और उनकी उपलब्धि के लिए व्यापक योजनाएँ भी कार्यान्वित कर दी गयी हैं।

भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ देश है यद्यपि कुछ शताब्दियों के पूर्व आधुनिक विकसित देशों की तुलना में यह सभी दृष्टिकोणों से समृद्ध था। विगत दो तीन शताब्दियों से अनेक कारणों के फल-स्वरूप, जिनमें विदेशी शासन प्रमुख है, इसकी अर्थ-व्यवस्था में विकृति आ गयी। अंग्रेजी शासकों ने इस देश का आर्थिक शोषण ही नहीं किया अपितु विकास में भी बाधाएँ उपस्थित कीं। परिणामस्वरूप आर्थिक प्रगति में रुकावट आ गयी और अर्थ-तन्त्र गर्त में पड़ गया। लोगों के आर्थिक उत्साह में कमी आने लगी। जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी में सन्तोष कर लेना चाहिए इस प्रकार की मनोवृत्ति होने लगी। अन्य देशों की आर्थिक प्रगति के अनुकरण करने की तथा उनके समकक्ष रहने के लिए प्रयत्नशील होने की, नये आविष्कारों का उपयोग करने की भावना लुप्तप्राय हो गयी। खेती तथा अन्य उद्योग धन्धों में काम करने की विधि परम्परागत ही रह

गयी जबकि अन्य प्रगतिशील देशों ने अनुसन्धान तथा गवेषणा के फलस्वरूप नये-नये उपकरणों तथा विधियों का प्रयोग करके सभी धन्धों की उत्पादन-क्षमता में प्रचुर मात्रा में वृद्धि कर ली। इन प्रगतिशील देशों में नये नये उद्योग धन्धे स्थापित होने लगे और नयी-नयी वस्तुओं का निर्माण होने लगा। राष्ट्रीय और प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हुई और जीवत-स्तर ऊँचा होता गया। इसके विपरीत भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति वैसी ही बनी रही। जनसंख्या में वृद्धि हुई परन्तु इसी अनुपात में उत्पादन में वृद्धि न हो पायी। परिणामस्वरूप जीवन-स्तर निम्नकोटि का हो गया। भारतवर्ष की इस आर्थिक हीनावस्था का कारण केवल राजनीतिक ही नहीं था। यहाँ की कुछ सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाएँ तथा मान्यताएँ भी प्रगति के मार्ग में बाधक होने लगीं। जाति-प्रथा, संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली इत्यादि जो किसी समय उपयोगी थीं नये आर्थिक वातावरण में अनुपयुक्त प्रतीत होने लगीं।

अविकसित अर्थ-तन्त्र के लक्षण

भारतवर्ष के अर्थ-तन्त्र में वह सभी लक्षण उपस्थित हैं जो अविकसित देशों में पाये जाते हैं। यहाँ का प्रमुख धन्धा कृषि है। दो-तिहाई से भी अधिक लोग अपने जीवननिर्वाह के लिए इसी धन्धे पर निर्भर रहते हैं। यह धन्धा भी बहुत ही हीन दशा में है। छोटे-छोटे और यत्र-तत्र बिखरे हुए खेतों में पुराने ढग से और पुराने उपकरणों से खेती की जाती है। सिंचाई, खाद, बीज, पशु, आदि का उपयुक्त प्रबन्ध नहीं है। अतएव प्रति एकड़ उपज बहुत कम होती है।

औद्योगीकरण में भी भारतवर्ष बहुत पिछड़ा हुआ है। बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे बहुत ही सीमित हैं। मशीन आदि उपकरण निर्माण करने-वाले, लोहा, इस्पात, कोयला, बिजली, रासायनिक पदार्थ सम्बन्धी बुनियादी भारी उद्योग-धन्धों की बहुत कमी है। कुटीर-उद्योग-धन्धे भी जो प्राचीन काल में विदेशों में विख्यात थे गर्त में पड़े हुए हैं।

सड़क, रेल, नहर, डाक, तार, टेलीफोन, बैंक, साख, मुद्रा, मार्केट,

शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि सेवाएँ तथा संस्थाएँ जो आर्थिक प्रगति को बल तथा वेग प्रदान करती हैं देश के सभी भागों में उपलब्ध नहीं हैं। देश विज्ञान और तकनीकी ज्ञान में भी बहुत पिछड़ा हुआ है।

इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय तथा प्रति-व्यक्ति आय बहुत कम है। अतएव लोगों का जीवन-स्तर भी निम्न कोटि का है। बचत और पूँजी-निर्माण का कार्य भी निम्न स्तर पर है। पूँजी के अभाव में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकती है।

जन्म-दर तथा मृत्यु-दर दोनों बहुत ऊँची हैं। शैशवावस्था में बड़ी संख्या में मृत्यु होती है। औसत जीवन काल भी बहुत छोटा होता है। कुछ अर्थ-शास्त्रियों के मतानुसार माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त भारतवर्ष में लागू होता है।

देश में प्रशासन-विधि भी उपयुक्त नहीं है। कुशल प्रशासकों और कर्मचारियों की कमी है। इसी कारण आधुनिक स्तर के उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए कुशल व्यवस्थापकों, मैनेजरो, डाइरेक्टरों, तकनीकियों तथा विशेषज्ञों की भारी कमी है।

इन सभी कारणों के फलस्वरूप भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था बहुत शोचनीय हो गयी है। निर्धनता तथा दरिद्रता व्यापक रूप में फैली हुई है। अनेक व्यक्तियों को दोनों समय पूरा आहार भी नहीं मिल पाता है। पहिने के लिए वस्त्र तथा रहने के लिए मकानों की बहुत कमी है। इनके अतिरिक्त अन्य आवश्यक तथा निपुणतादायक पदार्थ अधिकांश व्यक्तियों को दुर्लभ हैं। मुठ्ठी भर धनाढ्य व्यक्ति (जमीन्दार, पूँजीपति, पुरानी रियासतों के राजे-महाराजे) अवश्य हैं जो शान-शौकत की जिन्दगी व्यतीत करते हैं। इनके कारण आय तथा सम्पत्ति की विषमता यहाँ विकसित देशों की अपेक्षा अधिक है।

भारत बिकास की दिशा में

यह तो हम नहीं कहेंगे कि विदेशी सरकार ने भारतवर्ष की आर्थिक

दशा को सुधारने के लिए कुछ भी नहीं किया। केन्द्र तथा प्रान्तों में कृषि विभाग, उद्योग-विभाग, सहकारी-विभाग, स्वास्थ्य-विभाग सदृश अनेक विभाग खोले गये जिनका देश की अर्थव्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध था। सड़कों तथा रेलों का निर्माण हुआ। डाक-तार व्यवस्था की स्थापना की गयी। विद्यालयों तथा चिकित्सालयों की स्थापना हुई। कृषि-प्रदर्शनी-फार्म खोले गये। कुछ बड़ी नहरों का भी निर्माण हुआ। परन्तु देश की विशालता तथा उसकी समस्याओं के सन्दर्भ में यह सब नगण्य सा था। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की सेवाएँ तथा सुविधाएँ एक विशेष प्रकार के स्वार्थिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत उपलब्ध की गयीं। यह दृष्टिकोण था इंग्लैंड के उद्योग-धन्धों को सस्ता कच्चा माल उपलब्ध कराना तथा वहाँ के निर्मित माल के लिए भारतवर्ष को मार्केट बनाना। अर्थात् विदेशी सरकार ने भारतवर्ष में जो आर्थिक नीति अपनायी उसका मुख्य उद्देश्य इंग्लैंड को समृद्ध बनाने का था। यदि इस सन्दर्भ में भारतवर्ष की भी कुछ समृद्धि हो गयी तो यह गौण बात थी।

शनैः शनैः लोगों में जाग्रति हुई। स्वतन्त्रता आंदोलन प्रारम्भ हुआ। कुछ राजनीतिक तथा आर्थिक सुधार हुए। उदाहरणार्थ १९२० की दशाब्दि में और उसके बाद कुछ उद्योगों का संरक्षण प्राप्त हुआ जिससे इनका विकास हुआ। १९१९ तथा १९३५ के विधानों के फलस्वरूप प्रशासन कार्य में भारतवासियों को कुछ अधिकार प्राप्त हुए। परन्तु इनसे विशेष लाभ नहीं हुआ।

१९४७ में भारतवर्ष को विदेशी शासन से मुक्ति मिली। भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया। देश के आर्थिक निर्माण तथा विकास के मार्ग की एक बड़ी रुकावट दूर हो गयी। प्रारम्भिक ४-५ वर्षों में देश को विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। सैकड़ों छोटी-बड़ी रियासतों का देश में विलीनीकरण किया गया। तथा प्रान्तों का फिर से संगठन किया गया। तत्पश्चात् राज्य का ध्यान विशेष रूप से आर्थिक समस्याओं की ओर आकृष्ट हुआ।

आर्थिक योजनाएँ

भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता आन्दोलन की अवधि में ही योजना द्वारा आर्थिक विकास का लक्ष्य निर्धारित कर लिया था। अक्टूबर १९३८ में कांग्रेस ने श्री जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना-समिति की स्थापना की थी। यह समिति व्यापक रूप में अपना काम नहीं कर सकी क्योंकि द्वितीय महायुद्ध काल में इसके अध्यक्ष तथा अनेक सदस्यों को कारागार में डाल दिया गया था। फिर भी इस समिति ने भारत की आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों से आँकड़े एकत्रित किये और भारतवासियों का ध्यान आर्थिक योजना की ओर आकृष्ट किया।

एक और आर्थिक योजना निर्माण का कार्य भारतवर्ष के कुछ प्रमुख उद्योगपतियों ने किया जो “बम्बई योजना” के नाम से प्रख्यात है। इस योजना की रूपरेखा १९४४ में प्रकाशित हुई। इसने १५ वर्षों में १०,००० करोड़ रुपये के व्यय का लक्ष्य प्रतिपादित किया। इस योजना ने भी देश में आर्थिक समस्याओं तथा योजना के द्वारा उनके समाधान की ओर भारतवासियों का ध्यान आकृष्ट करने में योगदान दिया। इसके अतिरिक्त इन्हीं दिनों “पीपुल्स प्लान”, “गांधियन प्लान” आदि अन्य योजनाएँ भी प्रकाशित हुईं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कुछ पूर्व ही योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था की ओर यहाँ के लोगों की रुचि होने लगी।

योजना आयोग

योजना युक्त आर्थिक विकास की ओर भारत सरकार ने पहला कदम मार्च १९५० में उठाया जब उसने “योजना-आयोग” की स्थापना की। इस आयोग के अध्यक्ष भारत के प्रधान मंत्री बनाये गये। केन्द्रीय वित्त-मन्त्री तथा योजना-मन्त्री भी इसके सदस्य हैं। इस आयोग का प्रारम्भिक कार्य देश के उत्पादक साधनों (भौतिक तथा मानवीय) की समीक्षा करना था। दूसरा काम इन साधनों को सन्तुलित तथा सप्रभाव

रूप में काम में लगाने के लिए एक योजना का निर्माण करना था। उनकी प्राथमिकताएँ भी निर्धारित करनी थीं, और योजना को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त प्रणाली का भी सुझाव देना था।

पन्द्रह महीनों तक यह आयोग समस्याओं का अध्ययन करता रहा। इसने केन्द्रीय-मन्त्रियों, राज्यों तथा विभिन्न हितों के प्रतिनिधियों से विचार-विनिमय किया। इसके पश्चात् आयोग ने “प्रथम पंचवर्षीय योजना” की रूपरेखा प्रस्तुत की।

पंचवर्षीय योजनाएँ

भारतवर्ष की सरकार ने यह स्वीकार कर लिया है कि देश का आर्थिक विकास योजनाबद्ध रूप में हो। इस कार्य में सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसका पता सरकार की औद्योगिक नीति से लगता है जिसकी घोषणा १९४८ में की गयी थी। १९५६ में संशोधित रूप में इस नीति की पुष्टि की गयी। इसके अन्तर्गत राज्य द्वारा भाग लेने के आधार पर उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। पहिले वर्ग में कोयला, लोहा तथा इस्पात, खनिज-तेल-बिजली इत्यादि १७ उद्योग हैं जिनके भविष्य में विकास करने का पूरा उत्तरदायित्व राज्य ने अपने ऊपर लिया है। दूसरे वर्ग में मशीन-यन्त्र, अलूम्यूनियम, रसायनिक खाद, सड़क तथा समुद्री परिवहन इत्यादि एक दर्जन उद्योग हैं जिनका सम्पादन निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में किया जायेगा; परन्तु धीरे धीरे यह उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में आ जायेंगे। इस वर्ग के नये उद्योग-धन्धों की स्थापना में आमतौर से राज्य ही पहल करेगा। शेष उद्योग तीसरे वर्ग में रखे गये हैं जो सामान्यतः निजी क्षेत्र में सम्पादित होंगे यद्यपि राज्य को अधिकार रहेगा कि इस वर्ग में भी सरकारी उद्योगों की स्थापना कर सके अथवा किसी उद्योग को अपने हाथ में ले ले।

बड़े-बड़े उद्योगों पर नियंत्रण रखने के लिए और समय समय पर उनके

कार्यक्रमों के निरीक्षण के लिए १९५१ में एक उद्योग (विकास और नियमन) कानून पास किया गया। इसका संशोधन १९५३ में हुआ। इनके अन्तर्गत ऐसे उद्योगों को जिनमें एक लाख रुपये से अधिक की पूँजी लगी हुई है और जिनका नाम प्रथम अनुसूचि में दिया गया है अनिवार्य रूप से रजिस्ट्री करानी होगी, तथा नये कारखाने खोलने अथवा वर्तमान कारखानों का विस्तार करने के लिए केन्द्रीय सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करना पड़ेगा। कुछ स्थितियों में सरकार उद्योगों का संचालन अपने हाथ में भी ले सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत ने मिश्रित आर्थिक-व्यवस्था को स्वीकार किया है और उसकी पंचवर्षीय योजनाओं में भी उसकी पुष्टि होती है।

भारतवर्ष में योजना की अवधि पाँच वर्ष की है। योजना में पर्याप्त लोच रखी गयी है। अनुभव के आधार पर इसमें परिवर्तन लाया जा सकता है। प्रायः एक योजना में प्रारम्भ किये कार्य दूसरी योजना में पूर्ण होते हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के अतिरिक्त एक दीर्घकालीन योजना का प्रारूप भी है जिसमें दीर्घकालीन लक्ष्य ध्यान में रखे गये हैं और इन लक्ष्यों को दृष्टिकोण में रखते हुए पंचवर्षीय योजनाओं को उनका स्वरूप प्राप्त होता है।

तीन पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण हो गया है। जिनमें से दो सम्पादित हो चुकी हैं और तीसरी अपने द्वितीय वर्ष में चल रही है। प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल १९५१ से १९५६ तक था। द्वितीय योजना १९५६ में प्रारम्भ हो कर १९६१ में समाप्त हुई। अप्रैल १९६१ से तीसरी योजना चालू की गयी है जो १९६६ तक चलेगी।

यहाँ पर प्रत्येक योजना का विस्तृत व्यौरा देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इतना बतला देना पर्याप्त होगा कि योजनाओं के लक्ष्य क्या हैं, इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए साधनों की क्या व्यवस्था की गयी है, तथा इनसे कौन सी उपलब्धियाँ हुई हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६)

प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व भारत की अर्थ-व्यवस्था द्वितीय महायुद्ध तथा देश के विभाजन के फलस्वरूप जर्जरीभूत अवस्था में थी । विदेशी सरकार ने भारत को जबरदस्ती ही युद्ध में शामिल कर दिया था । विदेशी सेनाएँ भारत में आ गयीं । देश के अधिकांश साधन युद्ध-सामग्रियों का निर्माण करने तथा इन विदेशी सेनाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति में लग गये । देशवासियों को नाना प्रकार की कमियों का सामना करना पड़ा । सरकार की मुद्रा तथा आर्थिक नीति के फलस्वरूप मुद्रास्फीति का भी प्रादुर्भाव हुआ । मूल्य स्तर बहुत ऊँचे हो गये । मूल्य स्तर को नियंत्रित करने तथा आवश्यक वस्तुओं को राशन करने के उपाय अधिकांश मात्रा में असफल रहे । चोर-बाजारी में वृद्धि हुई । बंगाल में लाखों व्यक्ति भूख से मर गये ।

देश के विभाजन के फलस्वरूप भी पंजाब और बंगाल के अन्न-भंडार के क्षेत्र पाकिस्तान को मिल गये । इसी प्रकार जूट तथा कपास का उत्पादन करनेवाले क्षेत्र पाकिस्तान को मिले जबकि इनके कारखाने भारतवर्ष में थे । लाखों की संख्या में पाकिस्तान से विस्थापितों के आगमन के कारण इनको फिर से बसाने की समस्या सामने आ गयी ।

इन परिस्थितियों में प्रथम-पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य समझ में आ सकते हैं । इसका पहला उद्देश्य यही था कि विश्वयुद्ध और विभाजन के फलस्वरूप उत्पादन होनेवाली समस्याओं का समाधान किया जाय । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए खाद्यान्न तथा कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए कृषि को प्राथमिकता दी गयी । प्रथम संशोधित योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल व्यय २३५६ करोड़ रखा गया था जिसमें कृषि, सिंचाई तथा बिजली पर ४३.२ प्रतिशत व्यय निर्धारित किया गया था । कृषि के विकास के निमित्त सिंचाई, खाद, बीज, सहकारिता आदि प्रबन्धों के अतिरिक्त एक प्रमुख कार्य “सामुदायिक-विकास-योजनाओं” तथा “राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं” की स्थापना था । इनके द्वारा कृषकों के ज्ञान

में वृद्धि करना तथा आयोजित रूप में कृषि की प्रत्येक समस्या को हल करना था।

कृषि के अतिरिक्त योजना में परिवहन तथा संचार व्यवस्था, सामाजिक सेवाओं, तथा औद्योगिक विकास का भी प्रबन्ध किया गया था। युद्ध-काल में परिवहन व्यवस्था के विकास पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया था। कई स्थानों से रेल की पटरियाँ उखाड़ ली गयी थीं। पर्याप्त मरम्मत न होने के कारण सड़कें बहुत बुरी अवस्था में थीं। कृषि तथा औद्योगिक दोनों क्षेत्रों के विकास के लिए परिवहन तथा संचार-व्यवस्था में पर्याप्त विकास की आवश्यकता होती है। अतएव प्रथम योजना में प्राथमिकता के अनुसार इसको द्वितीय स्थान दिया गया और इस पर कुल व्यय का २३.६ प्रतिशत व्यय निर्धारित किया गया।

औद्योगिक विकास अधिकांश रूप में निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया परन्तु यह विकास योजना द्वारा प्रतिपादित लक्ष्यों तथा राज्य की आर्थिक नीति के अनुकूल होना चाहिए था। योजना में इस प्रकार के उद्योगों के विकास पर बल दिया गया जिनके द्वारा सिंचाई तथा कृषि के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता प्राप्त हो और जो उपभोग की वस्तुओं को निर्माण करने वाले उद्योगों की कार्य-क्षमता को पूर्ण रूप से काम में लाने में सहायक हों। इस अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में सरकार की यह नीति थी कि योजना से पूर्व जो औद्योगिक योजनाएँ प्रारम्भ हो चुकी थीं वह पूर्ण की जायँ और सरकार केवल उन्हीं नयी योजनाओं को अपने हाथ में ले जो अत्यन्त आवश्यक हों और बिना सरकार के उत्तरदायित्व के सम्पादित न हो सकें।

सामाजिक सेवाओं के कार्यों में शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण, परिवार-नियोजन, पिछड़े वर्गों का उत्पादन तथा अन्य कल्याणकारी कार्यों के सम्पादन का प्रबन्ध है। इन पर कुल व्यय का २२.६ प्रतिशत व्यय का अनुमान किया गया था।

उपलब्धियाँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य

आर्थिक विकास की सुदृढ़ नींव रखना था जिस पर उत्तरोत्तर वेग के साथ प्रगति हो सके। इस कार्य में आंशिक सफलता प्राप्त हुई है। इस (संशोधित) योजना में २,३५६ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान था परन्तु वास्तविक व्यय २,००० करोड़ रुपये के लगभग हुआ। योजना-आयोग के अनुसार प्रथम योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में लगभग १८ प्रतिशत वृद्धि हुई है। जनसंख्या में वृद्धि को ध्यान में रखते हुए प्रति व्यक्ति आय में ११ प्रतिशत वृद्धि तथा प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय में ९ प्रतिशत वृद्धि हुई है। अनाज के उत्पादन में २० प्रतिशत, कपास में ४५ प्रतिशत, और तिलहन में ८ प्रतिशत वृद्धि हुई है। सिंचाई के बड़े साधनों द्वारा लगभग ६० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि को, और छोटे साधनों द्वारा एक करोड़ एकड़ भूमि को लाभ पहुँचा है। औद्योगिक क्षेत्र में इस्पात के तीन कारखानों और भारी बिजली उद्योग के एक बड़े यन्त्र को लगाने के सम्बन्ध में आरम्भिक कार्य पूरा हो चुका है।

द्वितीय 'चवर्षीय योजना (१९५६-६१)

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का समारम्भ १ अप्रैल, १९५६ में हुआ और इसका सम्पादन ३१ मार्च, १९६१ में पूर्ण हुआ। योजना-आयोग के शब्दों में इस योजना द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजना द्वारा प्राप्त प्रगति को जारी रखना है। इसके द्वारा उत्पादन, पूँजी-विनियोग और रोजगार को बढ़ाना है और संस्थागत परिवर्तनों की गति इस प्रकार तीव्र बनानी है जिससे अर्थ व्यवस्था क्रान्तिकारी रूप से अधिक गतिशील और प्रगतिशील हो सके।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निम्नलिखित उद्देश्य दिये गये हैं :—

- १—राष्ट्रीय आय में इतनी वृद्धि करना जिससे देश के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो।
- २—मूल और भारी उद्योगों के विकास पर जोर देते हुए देश का तेजी से औद्योगीकरण।

- ३—रोजगार के अवसरों का अधिक विस्तार ।
- ४—आय और सम्पत्ति की विषमताओं का निराकरण और आर्थिक शक्ति का पहले से अधिक समान वितरण ।

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की विकास योजनाओं पर योजना काल में प्रारम्भ में कुल व्यय ४,८०० करोड़ रुपया रखा गया था । बाद में इसको ४,६५० करोड़ रुपया कर दिया गया । इस योजना की मुख्य मदों के अध्ययन से पता चलता है कि इसमें औद्योगीकरण पर अधिक बल दिया गया है । इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों और खानों के लिए कुल राशि का १९ प्रतिशत रखा गया है जबकि पहिली योजना में ८ प्रतिशत ही रखा गया था । परिवहन और संचार पर योजना काल में कुल व्यय का २९ प्रतिशत, सिंचाई और बिजली पर १९ प्रतिशत, कृषि तथा सामुदायिक विकास पर १२ प्रतिशत, सामाजिक सेवाओं पर २० प्रतिशत व्यय की व्यवस्था की गयी ।

उपलब्धियाँ

दूसरी पंचवर्षीय योजनावधि में औद्योगिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण काम सार्वजनिक क्षेत्र में तीन इस्पात के कारखानों का सक्रिय रूप में खोला जाना था । इसके अतिरिक्त कोयला, सिमेन्ट, अल्यूमिनियम सदृश औद्योगिक कच्चे माल के उत्पादन में भी पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई । बिजली के भारी उपकरणों के निर्माण का काम प्रारम्भ हो गया । रसायनिक पदार्थों के उद्योग-धन्धों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई ।

कृषि क्षेत्र में सामूहिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के विकास में अधिक बल दिया गया । पहिली योजना के अन्त तक ये सेवाएँ १,०६४ विकास खण्डों में स्थापित की गयी थीं जिसके अन्तर्गत १,५०,००० गाँव तथा ८ करोड़ आबादी आती है । दूसरी योजना के अन्त तक ३,१०० विकास खण्डों के अन्तर्गत चार लाख गाँव तथा लगभग २० करोड़ आबादी आ गयी थी । दूसरी योजना की अवधि

में लगभग ६० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की वृद्धि हुई। इस प्रकार के अन्य विकास के कार्यों के फलस्वरूप कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुओं का सूचनांक जो १९४९-५० को १०० मानकर प्रथम योजना के अन्त में ११६.९ था द्वितीय वर्ष के अन्त तक १३५ के लगभग हो गया।

रोजगार के सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया गया था कि द्वितीय योजना के पूर्व के बेरोजगारों के लिए ५३ लाख और द्वितीय योजना काल के श्रमिक वर्ग में नयी भरती के लिए एक करोड़ रोजगारों की आवश्यकता होगी। ऐसी आशा थी कि योजना काल में लगभग ८० लाख अतिरिक्त रोजगारों की व्यवस्था हो सकेगी। इसके अतिरिक्त कृषि क्षेत्र में १६ लाख व्यक्तियों को पूरे समय का काम मिलने की आशा की गयी थी। इस प्रकार से यह अनुमान लगाया गया था कि दूसरी योजनावधि में श्रमिक वर्गों में नये आगन्तुकों लिए अतिरिक्त रोजगार का प्रबन्ध हो सकेगा। परन्तु उपलब्धि इससे २० लाख कम हुई।

दूसरे पंचवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय आय में लगभग २० प्रतिशत वृद्धि हुई है। इस प्रकार १९५१-६१ की दशाब्धि में यह अनुमान लगाया गया है कि राष्ट्रीय आय लगभग ४२ प्रतिशत बढ़ी है तथा प्रति व्यक्ति आय में लगभग २० प्रतिशत और प्रति व्यक्ति उपभोग में लगभग १६ प्रतिशत वृद्धि हुई है।

तीसरी पंचवर्षीय योजना (१९६१-६६)

तीसरी पंचवर्षीय योजना १ अप्रैल, १९६१ से प्रारम्भ हुई और ३१ मार्च, १९६६ में पूर्ण होगी। इस योजना का परिमाण सार्वजनिक क्षेत्र में ७५०० करोड़ रुपये की लागत का रखा गया है। योजना-आयोग ने इस योजना के निम्नलिखित उद्देश्य बतलाये हैं :—

१—तीसरी योजना की अवधि में प्रति वर्ष ५ प्रतिशत से अधिक राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना तथा विनियोग के ढाँचे का इस प्रकार निर्माण करना जिससे भविष्य की योजनावधियों में प्रगति की यह दर बनी रहे।

- २—खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता की प्राप्ति तथा उद्योग और निर्यात की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि-उत्पादन का विकास ।
- ३—इस्पात, ईंधन और शक्ति सदृश बुनियादी उद्योगों का विस्तार और मशीन-निर्माण करने की क्षमता की स्थापना, जिससे लगभग १० वर्षों के भीतर देश के अपने साधनों द्वारा अतिरिक्त औद्योगीकरण की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके ।
- ४—देश के जन-शक्ति साधन को अधिकतम मात्रा में उपयोग करना तथा रोजगार के अवसरों में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि प्राप्त करना ।
- ५—आय तथा सम्पत्ति के वितरण की असमानता में कमी लाना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक मात्रा में समान वितरण करना ।

ये उद्देश्य दूसरी योजना के उद्देश्यों के सदृश ही हैं । यह आशा की जाती है कि इस तृतीय योजना काल में देश की अर्थ-व्यवस्था की प्रगति में आत्मनिर्भरता का समावेश हो जायेगा । यह तभी हो सकेगा जबकि अर्थ-व्यवस्था में बचत और विनियोग में इतनी वृद्धि हो जाय कि वह लगातार बढ़ती हुई आय की दर उपलब्ध करा सकें ।

तीसरी योजना को प्रारम्भ हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ है । अतएव इसकी उपलब्धियों के बारे कुछ कहा नहीं जा सकता है ।

पंचवर्षीय योजनाओं के साधन

योजना का निर्माण करना तथा उसके लक्ष्य निश्चरित कर देना ही पर्याप्त नहीं होता है । इसके सम्पादन के लिए साधनों की भी आवश्यकता होती है । यद्यपि अन्ततोगत्वा आर्थिक क्रियाओं के सम्पादन के लिए वास्तविक साधनों की आवश्यकता होती है तथापि इनको उपलब्ध करने के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा वास्तविक साधनों पर अधिकार प्राप्त हो सकता है । सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों में यह विधि लागू होती है ।

सार्वजनिक क्षेत्र को वित्तीय-साधन देश के भीतर तथा अन्य देशों से भी प्राप्त हो सकते हैं। देश के भीतर वित्तीय साधन के निम्न लिखित मुख्य स्रोत हैं :—

- १—पूर्व संचित धन
- २—करों द्वारा आय
- ३—सार्वजनिक उद्योगों के प्राप्त लाभ
- ४—सार्वजनिक ऋण
- ५—घाटे का बजट

विदेशों के ऋण अथवा सहायता के रूप में वित्तीय साधन उपलब्ध होते हैं।

एक अविकसित देश में पर्याप्त मात्रा में आर्थिक प्रगति के लिए वित्तीय साधन जुटाना कठिन कार्य होता है। निर्धनता के कारण करों से सीमित आय प्राप्त होती है। अप्रत्यक्ष करों का भार गरीब जनता पर अधिक पड़ता है और धनाढ्य व्यक्तियों के अल्पसंख्या में होने के कारण प्रत्यक्ष करों से भी अधिक आय नहीं हो पाती है। सार्वजनिक क्षेत्र में बहुत कम ऐसे उद्योग होते हैं जो मौद्रिक लाभ उपलब्ध करते हैं। मुद्रा-मार्केट तथा पूँजी-मार्केट के अविकसित होने के कारण सरकार को ऋण भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता है। अतएव विदेशी ऋण तथा सहायता और घाटे के बजट पर वित्तीय साधनों का एक बड़ा भाग निर्भर करता है।

भारतवर्ष की तीनों पंचवर्षीय योजनाओं के वित्तीय साधनों के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि इसका एक बड़ा भाग विदेशी सहायता तथा ऋण पर आधारित है। दूसरी योजना में घाटे के बजट से भी बड़ी मात्रा में सहायता ली गयी है। उदाहरण के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक विभाग के लिए निम्नलिखित वित्त-व्यवस्था की गई थी :—

भारतवर्ष में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था

२५३

१—चालू आय से बँचत :	(करोड़ रुपये)
(क) करों द्वारा १९५५-५६ की दरों के आधार पर	३५०
(ख) कर वृद्धि के द्वारा	४५०
	८००
२—जनता से ऋण से रूप में	
(क) बाजार से ऋण	७००
(ख) छोटी छोटी बचतें	५००
	१२,००
३—बजट के अन्य साधनों से	
(क) विकास-कार्यक्रमों में रेलों का भाग	१५०
(ख) निर्वाह-निधि तथा अन्य जमा-खाते	२५०
	४००
४—विदेशों से	८००
५—घाटे के बजट द्वारा	१,२००
६—कमी जो स्वदेश में ही नये साधनों द्वारा पूरी करनी होगी	४००

कुल ४,८००

तीसरी योजना के लिए निम्नलिखित वित्तीय साधनों की व्यवस्था है :-

(करोड़ रुपये)

१—चालू राजस्व की बजत	५५०
२—रेलों से उपलब्ध	१००

३—अन्य सार्वजनिक उद्योगों की आय	४५०
४—जनता से ऋण	८००
५—छोटी बचतें	६००
६—प्राविडेंट फंड तथा विविध कोष	५४०
७—अतिरिक्त कर तथा सार्वजनिक उद्योगों से अतिरिक्त आय	१७१०
८—विदेशों से	२२००
९—घाटे के बजट से	५५०

कुल ७५००

इन तालिकाओं से स्पष्ट है कि वित्तीय साधनों की उपलब्धि अधिक प्रोत्साहक नहीं है। उदाहरणार्थ विदेशी स्रोत का कोई भरोसा नहीं हो सकता है। जनता से ऋण द्वारा उपलब्धि भी अनिश्चित-सी ही रहती है। करों को बढ़ा कर तथा नये कर लगाकर आय में वृद्धि करने पर विरोध का सामना करना पड़ता है। रेलों के अतिरिक्त अन्य सार्वजनिक उद्योगों द्वारा विशुद्ध लाभ का कोई भरोसा नहीं हो सकता है। यह सब होने पर भी पहिली तथा दूसरी योजना के अनुभव से ज्ञात होता है कि लगन तथा अध्यवसाय द्वारा प्रयत्न करने से, जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा करने से, तथा विदेशी सम्बन्धों को उपयुक्त रखकर वित्तीय साधन जुटाने में अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

निजी क्षेत्र

पंचवर्षीय योजनाओं में निजी क्षेत्र के लक्ष्य भी निर्धारित किये गये हैं जो कि योजना से सम्बन्धित हैं। इनको निर्धारण करने में उद्योगपतियों से विचार-विनिमय किया गया है। निजी क्षेत्र में विनियोग विशेष रूप में उद्योग-धन्धों, कृषि, वाणिज्य तथा व्यापार, बागानों तथा भवन-निर्माण कार्यों के लिए आँका गया है। अनुमान किया जाता है कि प्रथम

पंचवर्षीयवधि में निजी क्षेत्र में लगभग १५०० करोड़ रुपये और द्वितीय योजनावधि में लगभग ३३०० करोड़ रुपये का विनियोग हुआ है। इनमें वह निधि भी शामिल है जो राज्य द्वारा निजी उद्योगों की सहायता के लिए उपलब्ध की गयी है। तीसरी योजना के अन्तर्गत निजी क्षेत्र में ४२०० करोड़ रुपये का विनियोग अनुमानित है जिसमें २०० करोड़ रुपया सार्वजनिक क्षेत्र से प्रदान किया जायेगा। शेष धन का प्रबन्ध निजी क्षेत्र को स्वयं करना पड़ेगा। यह उद्योग-धन्धों की निजी बचत द्वारा, शेयरों को बेचकर अथवा बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण द्वारा प्राप्त होगा।

पंचवर्षीय योजनाओं की आलोचना

हम पहिले ही बतला चुके हैं कि भारतवर्ष की सरकार ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अंगीकार किया है, और वह आर्थिक योजनाओं द्वारा इस व्यवस्था के स्थापना की चेष्टा में संलग्न है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था द्वारा न केवल आर्थिक विकास में प्रगति लाकर लोगों की आय तथा जीवनस्तर में वृद्धि करना है अपितु एक समाजवादी ढंग की समाज-व्यवस्था की स्थापना भी करनी है जिसकी घोषणा दिसम्बर १९५४ में संसद द्वारा की गयी थी। इन उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों को सहयोग तथा सह-अस्तित्व की भावना से कार्य करना है। तीनों योजनाओं के वित्तीय साधनों के आँकड़ों के निरीक्षण से पता लगता है कि ये योजनाएँ परिमाण में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं और निजी क्षेत्र की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग की वृद्धि आँकी गयी है।

दो पंचवर्षीय योजनाओं की उपलब्धियों से ज्ञात होता है कि निर्धारित उद्देश्यों और लक्ष्यों को प्राप्त करने में आशातीत सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इसके अनेक कारण हैं। सबसे पहिले एक मुख्य बात ध्यान में रखने की यह है कि इस प्रकार की योजनाओं द्वारा आर्थिक विकास करने का यह नया प्रयास है। सरकार को इस कार्य का कोई अनुभव नहीं था और न अन्य

देशों के अनुभवों से विशेष सहायता प्राप्त हो सकती थी। समाजवादी देशों की आर्थिक योजनाओं का निर्माण पूर्ण रूप में केन्द्रीय स्तर पर होता है। इसमें निजी क्षेत्र को नगण्य स्थान प्राप्त रहता है। सभी उत्पादक उपकरणों पर राज्य का अधिकार रहता है। परन्तु भारत ने जनतन्त्रात्मक ढंग से आर्थिक निर्माण करने का प्रयास किया है तथा निजी क्षेत्र को सम्मान का स्थान दिया है। राज्य के स्वामित्व में उत्पादक-साधन बहुत सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रारम्भिक काल में योजना से बहुत आशा नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त जिन आर्थिक समस्याओं को हल करना है वे भी बहुत जटिल हैं।

आशातीत सफलता प्राप्त न हो सकने का एक कारण योग्य, निष्ठावान तथा अनुभवी कर्मचारियों का अभाव है। आर्थिक प्रशासन और राज्यकीय प्रशासन में अन्तर है। निजी क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक अनुभवी व्यवस्थापक मैनेजर तथा डाइरेक्टर उपलब्ध हैं। परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में उपयुक्त संख्या में इनको उपलब्ध करने में अभी समय लगेगा।

यह तो निर्विवाद है कि गत दो योजनावधियों में आर्थिक प्रगति बहुत धीमी रही है, और भारतवासियों के जीवन-स्तर में विशेष उन्नति नहीं हुई है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि औसत वार्षिक प्रगति की दर लगभग ३ प्रतिशत रही है जो कि बढ़ती हुई जनसंख्या के सन्दर्भ में बहुत कम है। बेरोजगारी प्रत्यक्ष तथा प्रच्छन्न रूप में अभी भी बड़ी मात्रा में पायी जाती है।

जहाँ तक आय में असमानता कम करने का प्रश्न है इसमें भी अधिक सफलता नहीं मिल पायी है। परन्तु यह आशा की जाती है कि इस अवधि में सम्पत्ति-कर, व्यय-कर, पूँजी-लाभ कर तथा उपहार-कर सदैव प्रत्यक्ष करों के लगाने से तथा सामाजिक सेवाओं पर व्यय की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा असमानता में कुछ कमी अवश्य ही हुई होगी।

किसी भी देश के इतिहास में १०-१२ वर्ष की अवधि कोई बड़ी नहीं होती है। अतएव यदि इस अवधि में देश का बड़ी मात्रा में आर्थिक उत्थान

नहीं हो पाया है तो निराश होने की कोई बात नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि देश ने अपने सामने जो उद्देश्य रखे हैं वे वाञ्छनीय हैं तथा इनको उपलब्ध करने के लिए योजना-बद्ध मिश्रित अर्थ-व्यवस्था उपयुक्त है।

इस अध्याय को समाप्त करते हुए हम यह बतलाना चाहते हैं कि भारत में योजना का निर्माण विकेन्द्रीय रूप में होता है यद्यपि अन्तिम स्वीकृति संसद द्वारा प्राप्त होती है। स्थानीय, जिला, तथा प्रादेशिक योजनाओं के आधार पर ही सामञ्जस्य तथा सन्तुलन करके पूरे देश के लिए योजना बनायी जाती है। विभिन्न स्तरों पर विशेषज्ञों द्वारा इसका निरीक्षण होता है। अन्तिम रूप देने से पहिले योजना की रूपरेखा प्रकाशित कर दी जाती है और जनता को अपनी राय प्रकट करने का अवसर दिया जाता है। केन्द्रीय योजना-आयोग के अतिरिक्त राज्यों में भी योजना सम्बन्धी मन्त्रालय तथा विविध स्तरों पर विकास समितियाँ भी रहती हैं। केन्द्रीय स्तर पर एक राष्ट्रीय विकास परिषद की भी स्थापना की गयी है, जिसके सदस्यों में राज्यों के मुख्य मन्त्री भी होते हैं। संसद में जाने से पहिले योजना के ढाँचे पर इस परिषद में भी विचार-विनिमय होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की नियोजित मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में जनतन्त्रात्मक स्वतन्त्रता निहित है।

अध्याय १५

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का मूल्यांकन

मूल्यांकन की समस्या

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के मूल्यांकन की एक प्रमुख समस्या यह है कि यद्यपि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था विभिन्न स्तरों पर अनेक पूँजीवादी देशों में पायी जाती है परन्तु इस व्यवस्था को हमने जो व्यक्तित्व दिया है उस रूप में यह व्यवस्था अभी किसी भी देश में पूर्ण रूप में विकसित नहीं हो पायी है। पिछले अध्याय में हमने इस व्यवस्था के सन्दर्भ में भारत का उदाहरण दिया था। परन्तु इस देश में भी व्यावहारिक रूप में यह व्यवस्था अभी तक प्रयोगात्मक रूप में ही है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का पर्याप्त मात्रा में अनुभव हो चुका है। इनके नियम तथा सिद्धान्त प्रतिपादित हो गये हैं। परन्तु अभी तक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को यह स्थान प्राप्त नहीं हो पाया है। इसके सिद्धान्त अभी प्रतिपादित होने को हैं। अतएव इसके गुण-दोषों, सफलताओं-विफलताओं तथा उपलब्धियों के बारे में निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहना कठिन है। तथापि इस व्यवस्था में निहित आशाओं तथा आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए इसकी विशेषताओं, मान्यताओं, तथा समस्याओं पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था से आशाएँ

तेरहवें अध्याय में हमने बतलाया था कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नींव पूँजीवादी अर्थ-पद्धति की त्रुटियों तथा विषमताओं को दूर करने

अथवा कम करने के सम्बन्ध में डाली गयी। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विकास में कुछ इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगीं जों सामाजिक दृष्टिकोण से उचित नहीं समझी जा सकती थीं। उदाहरण के लिए इस व्यवस्था में बहुधा सभी आर्थिक साधनों को पूर्ण उद्यम नहीं मिल पाता था जब कि समाज में अनेक व्यक्तियों की आवश्यकताएं अपूर्ण रहती थीं। इसी प्रकार जो वस्तुएं तथा सेवाएं निजी क्षेत्र में उत्पन्न की जाती थीं उनका मुख्य आधार मौद्रिक-लाभ होता था। एक ओर तो धनी व्यक्तियों की विलासिता सम्बन्धी माँगों की भी तृप्ति हो जाती थी, दूसरी ओर निर्धनों को भरपेट भोजन भी प्राप्त न हो पाता था। यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादकों को अधिकतम लाभ पहुँचाने वाला उत्पादन उपभोक्ताओं को भी अधिकतम सन्तोष प्रदान करेगा। आर्थिक प्रगति भी निर्विरोध रूप में नहीं होती थी। बीच बीच में भीषण आर्थिक संकट आ जाते थे, जिसके फलस्वरूप बड़ी मात्रा में बेरोजगारी फैल जाती थी तथा जीवन-स्तर गिरने लगता था। इस पद्धति में एक और बड़ा दोष यह पाया गया कि इसके अन्तर्गत संपत्ति और आय का एक बड़ा भाग थोड़े से व्यक्तियों के पास केन्द्रित होने लगता था जिससे आर्थिक असमानता में वृद्धि होने लगती थी।

पूँजीवादी अर्थ-पद्धति की इन त्रुटियों को हटाने के लिए राज्य का सहारा लिया जाने लगा। ऐसा समझा गया कि राज्य के हस्तक्षेप द्वारा पूँजीवादी आर्थिक दायरे के अन्तर्गत ही इन समस्याओं का समाधान हो सकेगा। इस कार्य के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की तथा राज्य की राजस्व, मौद्रिक और आर्थिक नीतियों द्वारा, नियंत्रण, प्रोत्साहन, सहायता तथा सहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई।

सैद्धान्तिक रूप में इन आर्थिक शस्त्रों द्वारा राज्य को पूँजीवादी त्रुटियों को दूर करने में सफलता मिलनी चाहिए। उदाहरणार्थ जिन आर्थिक साधनों का उपयोग निजी क्षेत्र में नहीं हो पाता है उनका उपयोग सार्वजनिक क्षेत्र में हो सकता है। यदि निजी क्षेत्र हानि की आशंका से साधनों

का उपयोग नहीं कर रहा है तो राज्य करों में कमी करके, व्याज की दर घटा करके अथवा आर्थिक सहायता दे कर उसको आशान्वित कर सकता है। इसी प्रकार आर्थिक चक्र सम्बन्धी अस्थिरता भी कम की जा सकती है। मन्दी के अवसर पर सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि करके और स्फीति के अवसर पर उसमें कमी कर के तथा अन्य नीतियों द्वारा भी राज्य “क्षतिपूर्ति” का कार्य कर सकता है। सम्पत्ति तथा आय की असमानता भी कुछ अंश में कर तथा राज्य-व्यय द्वारा कम की जा सकती है।

सफलता में बाधाएँ

दुर्भाग्यवश व्यवहार में ये आशाएँ पूर्ण रूप से पूरी नहीं हो पाती हैं। उदाहरण के लिए उद्यमहीन साधनों को काम में लगाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तृत करने की बात कही गयी है। परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र में भी कार्य करने के लिए भिन्न भिन्न साधनों की भिन्न भिन्न मात्राओं में आवश्यकता होती है। मान लीजिए, मनुष्य बेकार हैं। इनको काम में लगाने के लिए कच्चा माल तथा अन्य उपकरणों की भी आवश्यकता होती है। यदि पूरक साधन उपयुक्त परिमाण में प्राप्त न हों तो सार्वजनिक क्षेत्र में ही किस प्रकार सभी बेकार व्यक्तियों को काम में लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए धन की भी आवश्यकता होती है। राज्य को भी अतिरिक्त धन आसानी से प्राप्त नहीं हो जाता। कर, ऋण, घाटे का बजट इत्यादि धन प्राप्त करने की विधियों के साथ साथ तत्संबंधी समस्याएँ भी संलग्न रहती हैं। ऐसा हो सकता है और होता भी है कि एक प्रकार की समस्या को हल करने के लिए जो उपाय किये जाते हैं उनके फलस्वरूप दूसरी प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

इसी प्रकार यदि राज्य आर्थिक साधनों को भिन्न भिन्न उद्योग-धन्धों में वितरण करने की क्रिया को प्रभावित करने की चेष्टा करता है तो

इसको इसमें भी आशातीत सफलता मिलने में सन्देह ही है। सार्वजनिक क्षेत्र में तो राज्य अपनी इच्छा के अनुसार साधनों का वितरण कर सकता है। परन्तु निजी क्षेत्र में यह क्रिया मुख्यतः राजस्व नीति द्वारा संपादित की जाती है। उदाहरण के लिए यदि सरकार चाहती है कि शराब के उद्योग में कम साधन लगाये जायें तो वह उसके उत्पादन तथा बिक्री पर भारी कर लगा सकती है। यह आशा की जाती है कि इससे शराब की कीमत बढ़ जायेगी और अधिक कीमत पर शराब की माँग में कमी हो जायेगी, जिसके फलस्वरूप उसके उत्पादन में कम साधन लगाये जायेंगे। परन्तु इस प्रकार का प्रतिफल आवश्यक नहीं है। हो सकता है कि शराब की माँग में लोच कम हो और बढ़ी हुई कीमत पर भी शराबियों की शराब की माँग पूर्ववत् ही बनी रहे। यदि ऐसा हुआ तो सरकार की कर-नीति अपने कार्य में असफल ही रहेगी। इसी प्रकार यदि सरकार चाहती है कि मकानों के निर्माण में वृद्धि हो तो वह इस कार्य के लिए कम व्याज पर दीर्घकालीन ऋण देकर गृह-निर्माण कार्य को प्रोत्साहित कर सकती है। परन्तु नये मकान बनाये जायेंगे अथवा नहीं यह केवल कम व्याज पर ऋण उपलब्ध होने पर ही निर्भर नहीं करता है। यदि ईंट, सीमन्ट, लोहा इत्यादि भवन-निर्माण के उपकरण सुलभ न हों तो मकान उपयुक्त मात्रा में न बन पायेंगे। भारतवर्ष में ही हमको इसका उदाहरण मिलता है। अपनी पंच-वर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत केन्द्र ने राज्य सरकारों को कम आय वाले व्यक्तियों को मकान बनाने के लिए ऋण देने की व्यवस्था की है, परन्तु इस पूँजी का पूर्ण रूप में उपयोग नहीं हो पाया है।

आर्थिक चक्र का अन्त करने के सम्बन्ध में भी मिश्रित व्यवस्था को पूर्ण सफलता मिलने में सन्देह है। विशेषरूप में जब विनियोग की मात्रा अत्यधिक होने लगती है और मुद्रा-स्फीति का प्रादुर्भाव होने लगता है तो ऐसी परिस्थिति में राज्य द्वारा सार्वजनिक विनियोग में कमी, करों में वृद्धि और बजट में अतिरिक्त आय लाना अपेक्षित होता है। परन्तु जन-तन्त्र में अधिकांश व्यय जन-हित के कार्य के लिए किये जाते हैं : उनमें वृद्धि

ही होती रहती है। उनमें पर्याप्त मात्रा में कमी करना कल्याणकारी राज्य के लिए बहुत कठिन हो जाता है। इसी प्रकार करों की वृद्धि से, विशेष-तया वस्तुकरों की वृद्धि से, मूल्य-स्तर में वृद्धि होने लगती है जिसके फलस्वरूप मजदूरी में वृद्धि, लागत में वृद्धि, पुनः मूल्यों में वृद्धि, इस प्रकार की संक्रामक मुद्रा-स्फीति की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। आर्थिक मन्दी को दूर करने के लिए ही बहुधा राजस्व-नीति और सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि अपर्याप्त प्रतीत होती है। सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की भी एक सीमा होती है। और यदि मन्दी गहरी जड़ें पकड़ चुकी हो तो करों में रियायतें अथवा व्याज की दर में कमी निजी क्षेत्र को आशान्वित न कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय के लिए साधन जुटाने की भी समस्या हो जाती है।

आय की असमानता कम करने के सम्बन्ध में भी जहाँ तक वर्द्धमान-करों द्वारा इस अवस्था को लाने का प्रयास किया जाता है, इस बात को न भूलना चाहिए कि कर-भार वहन करने की भी क्षमता होती है। यदि प्रत्यक्ष करों में अतिशय वृद्धि कर दी जाय तो सम्भव है कि इसके फलस्वरूप कर-दाताओं की बचत और विनियोग करने के उत्साह में कमी आ जाय और उत्पादन के स्तर में भी कमी आ जाय। निजी क्षेत्र में पूँजी के विनियोग के लिए पर्याप्त लाभ बनाये रखना पड़ता है। यदि करों के देने के उपरान्त उद्योगी के लिए अपर्याप्त लाभ बचता है तो इस अवस्था में वह पूँजी लगाने में हिचकिचायेगा। अतएव करों का प्रयोग असमानता को दूर करने में एक सीमा तक ही किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवादी अर्थ-पद्धति की जिन प्रमुख त्रुटियों को दूर करने के लिए मिश्रित पद्धति की कल्पना की गयी है उसकी पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त करने में अनेक व्यवहारिक रुकावटें तथा बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जिनको मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र की वृद्धि से तथा प्रमुख उद्योगों के समाजीकरण से उद्योगपतियों को यह आशंका हो जाती है कि कहीं राज्य

उनके उद्योगों का भी समाजीकरण न कर लें। इस आशंका के फलस्वरूप वे निरुत्साहित हो जाते हैं और अपने उद्योग-धन्वों की कार्य-क्षमता की वृद्धि में, उनके विस्तार में, अथवा नये उद्योग-धन्वों की स्थापना में रुचि नहीं लेते हैं। कभी कभी मन्त्रियों के अविचारपूर्ण भाषण भी निजी क्षेत्र में भय उत्पन्न कर देते हैं। फलस्वरूप अर्थ-तन्त्र को निजी क्षेत्र का उतना सहयोग प्राप्त नहीं हो पाता है जितना मिश्रित अर्थ-पद्धति को सफल बनाने में अपेक्षित है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपनी नीति की बिलकुल स्पष्ट रूप में घोषणा करे और निजी क्षेत्र को अपना विश्वास-पात्र बनाये। यह निर्विवाद है कि बिना निजी क्षेत्र के सक्रिय सहयोग के मिश्रित अर्थ-पद्धति सार्थक नहीं हो सकती है। जिस पद्धति में निजी उद्योगपति सशंक रहते हैं और राज्य की आर्थिक नीतियों का आदर नहीं करते हैं उस पद्धति की सफलता में सन्देह रहता है।

राज्य का बजट

मिश्रित अर्थ-पद्धति की सफलता के लिए राजस्व-नीति का योगदान परमावश्यक है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की राजस्व नीति राज्य-क्रियाओं के आय-व्यय तक ही सीमित नहीं होती है। राजस्व-नीति द्वारा सारे अर्थ-तन्त्र को इस प्रकार प्रभावित करने की चेष्टा की जाती है जिससे वह निर्धारित आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति में योग-दान करे। जैसे पहिले बतलाया जा चुका है, राजस्व-नीति राज्य की कर-ऋण-व्यय नीतियों का संघात है। कर लगाते समय केवल इस बात का ही विचार नहीं करना पड़ता है कि इससे राज्य को कितनी आय होगी अपितु यह भी सोचना पड़ता है कि इसकी अर्थ-तन्त्र में किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी अर्थात् इसका पूँजी-विनियोग में, रोजगार में, मूल्यों में, तथा उपभोक्ताओं पर कैसा प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार का विचार सार्वजनिक ऋण तथा व्यय के सन्दर्भ में भी करना पड़ता है।

किसी भी सरकार की सांगोपांग राजस्व-नीति उसके बजट में परि-

लक्षित होती है। बजट में सभी प्रकार के करों-व्ययों तथा ऋणों का संघात आँकड़ों के रूप में एकत्र प्राप्त हो जाता है। यद्यपि बजट विविध आय-व्यय सम्बन्धी आँकड़ों से भरा रहता है तथापि इन आँकड़ों का यदि देश की आर्थिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत गहरा अध्ययन किया जाय तो इससे राज्य की आर्थिक सफलताओं तथा विफलताओं का पता लग सकता है। सामान्य-तया बजट में तीन वर्षों का हिसाब-किताब रहता है। उदाहरण के लिए, राजस्व वर्ष १९६२ में १९६२-६३ का बजट संसद में प्रस्तुत किया गया और स्वीकृत हुआ। इस बजट में १९६०-६१ के परिपूर्ण आँकड़े दिये जायेंगे। इन आँकड़ों के अध्ययन से पता चल सकता है कि सरकार की उस वर्ष की राजस्व-नीति कहाँ तक सफल हुई। इसी प्रकार इसी बजट में १९६१-६२ के अनुभव के आधार पर आय-व्यय के संशोधित आँकड़े प्राप्त हो सकेंगे। इन आँकड़ों के अध्ययन से यह पता चल सकता है कि राजस्व-नीति किस प्रकार सम्पादित हो रही है। इसके अतिरिक्त बजट में आने वाले वर्ष १९६२-६३ के भी आँकड़े दिये रहेंगे। इन आँकड़ों के अध्ययन से यह पता चल सकेगा कि आने वाले वर्ष के लिए सरकार की किस प्रकार की राजस्व नीति होगी।

स्पष्ट है कि १९६२-६३ के बजट का निमाण करने में राज्य को वर्तमान तथा निकट भविष्य में सम्भावित आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना पड़ेगा। देश की आर्थिक पृष्ठभूमि तथा वातावरण में ही एक प्रगतिशील बजट की कल्पना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त बजट का निर्माण करते समय राज्य को यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि सुदूर भविष्य में उनको किन उद्देश्यों की पूर्ति करनी है। बजट में इसका प्रबन्ध करना होगा। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि भारत सरकार को किसी वर्ष विशेष में मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के तत्त्वों का अपने बजट में समावेश करना पड़े। परन्तु उसका दीर्घकालीन उद्देश्य समाजवादी ढंग की समाज की स्थापना करना है। अतएव उसको अपने वार्षिक बजटों के निर्माण में इस उद्देश्य को भी ध्यान में रखना पड़ेगा।

इस प्रकार के बजट का निर्माण करना आसान काम नहीं है। आर्थिक परिस्थिति, विशेषतया भविष्य में उत्पन्न होने वाली आर्थिक परिस्थिति, का अनुमान करना कठिन कार्य है। एक ऐसी पद्धति, जिसमें उपभोक्ताओं को स्वतन्त्रता प्राप्त है और जिसमें एक बड़ी मात्रा में निजी क्षेत्र क्रियाशील रहता है, अनेक अज्ञात तथा अनिश्चयात्मक तत्वों से व्याप्त रहती है। आर्थिक परिस्थिति तथा उसकी प्रवृत्तियाँ आँकड़ों द्वारा ही समझी जा सकती हैं। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि पर्याप्त मात्रा में अधिकृत तथा विश्वसनीय आँकड़े एकत्रित किये जायें। अनेक देशों में इस प्रकार के आँकड़े उपयुक्त मात्रा में प्राप्त नहीं हैं। भारतवर्ष भी इसी श्रेणी का देश है। आँकड़ों को एकत्रित करने के उपरान्त उनका सांख्यिकीय विधियों द्वारा विश्लेषण करके उनसे आर्थिक परिणाम निकाले जाते हैं। इन परिणामों के आधार पर ही आने वाले वर्ष का बजट बनाया जाता है।

पूर्वोक्त सक्षिप्त विवेचन से पाठकों की समझ में आ गया होगा कि अर्थतन्त्र को प्रभावित करने और उसको आर्थिक लक्ष्यों की ओर प्रेरित करने के लिए सांगोपांग बजट के निर्माण में किस प्रकार की कठिनाइयों तथा समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के सम्पादन में राज्य को आशातीत सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। परन्तु इसमें निराश होने की कोई बात नहीं है। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अभी नया प्रयोग है। धीरे-धीरे अनुभव के आधार पर उसकी पकड़ अर्थ-तन्त्र पर बढ़ती जायेगी तथा उसको अपने उद्देश्यों की पूर्ति में अधिकाधिक सफलता प्राप्त होती जायेगी।

सार्वजनिक क्षेत्र की समस्या

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में हम सार्वजनिक क्षेत्र के महत्व के बारे में पहिले बतला चुके हैं। परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र के अस्तित्व से ही समाज का हित अवश्यंभावी नहीं हैं। यह बात याद रखने की है कि सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना करना स्वयंमेव कोई उद्देश्य नहीं होता है। सार्वजनिक क्षेत्र

तो साधन मात्र है, जिसकी सहायता से सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति की चेष्टा की जाती है। यदि इस क्षेत्र के सम्पादन में ही त्रुटियाँ तथा बाधाएँ उत्पन्न हो जायें तो उस अंश में यह साधन सहायक न हो पायेगा। ऐसा भी हो सकता है इससे समाज का अहित हो।

सार्वजनिक क्षेत्र में जो उद्योग धन्धे सम्पन्न होते हैं उनके बारे में प्रसिद्ध है कि उनकी कार्य-क्षमता उसी प्रकार के निजी उद्योग धन्धों की तुलना में कम रहती है। उनमें लागत अधिक लगती है और उपलब्धि कम होती है। इसका मुख्य कारण यह बतलाया जाता है कि निजी उद्योग में उसके स्वामी अपव्ययता तथा बरबादी बचाने की भरसक चेष्टा करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनके लाभ में वृद्धि होती है। लागत-व्यय में तथा उत्पादकता में वृद्धि के फलस्वरूप उद्योगपतियों के लाभ में भी वृद्धि होती है। अतएव वह अथवा उसके मैनेजर तथा डाइरेक्टर सतत सतर्क रहते हैं। परन्तु सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में पहले तो अनेक उद्योग मौद्रिक-लाभ के उद्देश्य से चलाये ही नहीं जाते हैं। उनका उद्देश्य अधिकतम जनहित करना है। जैसा हम पहिले बतला आये हैं, जनहित की माप नहीं हो सकती है। अतएव ऐसे उद्योगों की कार्यक्षमता तथा उत्पादकता के बारे में अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। दूसरी बात यह है कि इन उद्योगों के स्वामी कोई व्यक्ति विशेष नहीं होते हैं। इनसे जो लाभ होता है वह सर्व-साधारण जनता का समझना चाहिए। साधारण जनता को यह लाभ मौद्रिक रूप में तो प्राप्त नहीं होता है। अतएव उद्योगपति के लाभ के समान यह मित-व्ययता, कार्य-क्षमता तथा उत्पादकता का प्रेरक नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य-कर्ताओं को जो राज्य की ओर से पारिश्रमिक मिलता है उसका उत्पादकता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि अधिकांश लोग जब तक उनके पीछे कोई प्रेरक शक्ति काम न करे मनोयोग-पूर्वक काम नहीं करते हैं। निजी क्षेत्र में लाभ की आशा इस प्रकार की प्रेरक शक्ति है जो श्रमिकों से कस कर काम करवाती है और कार्य-क्षमता के अनुसार

वारिश्मिक प्रदान करती है। सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों तथा मजदूरों में बहुधा यह भावना पायी जाती है कि यदि उनकी सुस्ती, कामचोरी और लापरवाही से हानि भी होती है तो वह हानि सरकार की होती है जिससे उनका कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। इस प्रकार की बरबादी और लापरवाही के उदाहरण भारतवर्ष के सार्वजनिक क्षेत्र में कई उद्योगों में पाये गये हैं, जिनकी ओर औडिटरों ने अपनी रिपोर्टों में संसद का ध्यान आकर्षित किया है। भ्रष्टाचार के उदाहरण भी मिलते हैं। इन सब बुराइयों से जनता का अहित होता है और सार्वजनिक क्षेत्र की भी बदनामी होती है।

ऐसी बात नहीं है कि सार्वजनिक क्षेत्र के ये दोष दूर न किये जा सकते हों क्योंकि ये दोष पद्धति में निहित नहीं हैं। ये व्यावहारिक त्रुटियाँ हैं और इनका निराकरण सम्भव है। इस दिशा में प्रयत्न भी किये जा रहे हैं और कुछ अंश में सफलता भी प्राप्त हुई है। उदाहरणस्वरूप अनेक योजनाओं को सरकारी कौरपोरेशनों के अंतर्गत सम्पादित किया जा रहा है। उदाहरण के लिए भारत में दामोदर-घाटी कौरपोरेशन, एयर-इंडिया-कौरपोरेशन; ग्रेट ब्रिटेन में ब्रिटिश ब्रौडकास्टिंग कौरपोरेशन; अमेरिका में टेनेसीभैली कौरपोरेशन इत्यादि। सार्वजनिक क्षेत्र के ये कौरपोरेशन बहुत बातों में निजी क्षेत्र के कौरपोरेशन के समान ही होते हैं। इनके मैनेजरों को अनेक प्रकार की सुविधाएं तथा कार्य सम्पादन करने की स्वतन्त्रता रहती है जो कि सरकारी विभागों द्वारा संचालित उद्योगों को उपलब्ध नहीं रहती है। किसी भी उद्योग की कार्य-क्षमता तथा उत्पादकता की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार यथाशीघ्र निर्णय लिये जायें। यदि इस प्रकार के निर्णय लेने के लिए सम्बन्धीय विभागों तथा मन्त्रालयों के आदेश की आवश्यकता हो तो इसमें विलम्ब (लाल फीताशाही) होने के कारण सुअबसर हाथ से निकल जाने की आशंका रहती है। इसी प्रकार इन कौरपोरेशनों में प्रायः नियुक्तियाँ भी योग्यता के आधार पर की जाती हैं, न कि संस्तुतियों के आधार पर।

अस्तित्वगत सार्वजनिक क्षेत्र की सफलता संसद के सदस्यों की, मंत्रि-

मण्डल की, विभागीय प्रशासकों की, तथा श्रमिकों के चरित्र, निष्ठा, योग्यता तथा लगन के साथ काम करने पर निर्भर करती है। यदि ये लोग निःस्वार्थ जनहित की सेवा की भावना से प्रेरित हो कर लगन से काम करें तो कोई कारण नहीं है कि सार्वजनिक क्षेत्र में अपव्ययता, बरबादी तथा भ्रष्टाचारिता हो। सबसे बड़ी आवश्यकता इस प्रकार के प्रशासक वर्ग की है जो अपने निःस्वार्थ आचरण से अन्य कार्यकर्ताओं में भी इस प्रकार की भावना उत्पन्न कर सकें जिससे बिना बाहरी निरीक्षण तथा प्रेरणा के सभी लोग दक्षता के साथ अपने अपने लिये निर्धारित कार्यों को करते रहें। इस प्रकार के समाज को बनाने के लिए सामाजिक तथा नैतिक मान्यताओं और परम्पराओं की आवश्यकता होती है। जहाँ यह उपलब्ध नहीं हैं अथवा लुप्तप्राय हैं वहाँ शिक्षा द्वारा इनकी स्थापना हो सकती है। परम्पराओं तथा मान्यताओं की स्थापना करने में समय लगता है। परन्तु यह काम असम्भव नहीं है। सार्वजनिक क्षेत्र को आशातीत सफलता तभी मिल सकती है जब कि समाज में सच्चरित्रता, परोपकारिता, निःस्वार्थता तथा लगन के साथ काम करने की भावना जागृत हो। यह तो आशा नहीं की जा सकती है कि सभी व्यक्तियों की इस प्रकार की भावना होगी परन्तु यदि नेता-वर्ग में और विभागाध्यक्षों में जनहित की भावना का प्रादुर्भाव हो जाय तो इससे सार्वजनिक क्षेत्र का स्तर बहुत कुछ ऊँचा हो सकता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में एक आशंका यह भी रहती है कि कहीं उसमें पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं के गुणों के स्थान पर उनके अवगुण न आ जायें। कहा जाता है कि किसी सिने-तारिका ने एक बार दिवंगत जॉर्ज बर्नार्ड शॉ को एक पत्र लिख कर उनसे एक सन्तान की याचना की। तारिका ने लिखा कि उसका रूप और शॉ की बुद्धि प्राप्त होने पर यह सन्तान अद्वितीय होगी। शॉ ने उत्तर भेजा कि यदि सन्तान में उसका रूप और तारिका की बुद्धि हुई तो क्या होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का अर्थ-तन्त्र में उचित ढंग से समावेश नहीं हुआ, यदि सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र सह-अस्तित्व तथा सहकारिता की

भावना से कार्य न कटें और यदि अधिकारी तथा प्रशासक वर्ग सच्चरित्रता और निःस्वार्थ सेवाभाव का उदाहरण समाज के समक्ष न रख सकें तो मिश्रित आर्थिक पद्धति का भविष्य नैराश्यपूर्ण ही रहेगा।

इस प्रकार की आशंकाओं के होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान काल के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण के सन्दर्भ में पूंजीवादी विकसित तथा अविकसित देशों को निर्बाध रूप से प्रगति करने के लिए मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को ही अपनाना पड़ेगा। अन्यथा साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था को जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि देश घबराये रहते हैं रोका नहीं जा सकेगा। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, राजनीतिक तथा प्रशासक वर्ग एक साथ बैठ कर विचार-मंथन करें और मिश्रित आर्थिक पद्धति को प्रखर स्वरूप तथा व्यक्तित्व प्रदान करें। इसी में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की सार्थकता है।

